

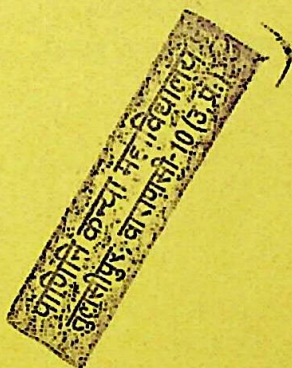
S

9.3



पं. गुरुदत्त विद्यार्थी जीवन और कार्य

श्री लाला लाजपतराय





पं० गुरुदत्त विद्यार्थी : ३८५
जीवन और कार्य

(लाला लाजपतराय की प्रथम अंग्रेजी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद)

मूल लेखक :

लाला लाजपतराय

वकील, चीफ कोर्ट पंजाब

अनुवादक :

प्रो० भवानीलाल भारतीय

दयानन्द शोध पीठ, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

प्रकाशक :

आर्य प्रकाशन

८१४, कूण्डेवालान, अजमेरी गेट, दिल्ली-६

प्रकाशक :

तिलकराज आर्य

अध्यक्ष

आर्य प्रकाशन

८१४, कूण्डेवालान, अजमेरी गेट,

दिल्ली-११०००६

प्रथम संस्करण :- शिवरात्रि, १९९०

मूल्य

Rs.

57.2

मुद्रक :

दुर्गा मुद्रणालय,

सुभाष पार्क एक्सटेंशन,

नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२



समर्पण

ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज विषयक
शोधपरक अध्ययन हेतु समर्पित—

प्रो० जे० टी० एफ० जार्डन्स,

(आस्ट्रेलियन नेशनल

यूनिवर्सिटी केनबरा

में एशियायी

अध्ययन के

प्राध्यापक)

तथा

प्रो० केनेथ डब्लू० जोन्स

(केन्सास स्टेट यूनिवर्सिटी मेनहट्टन यू० एस० ए०

में इतिहास के प्राध्यापक)

को

—भवानीलाल भारतीय



अनुवादक का वक्तव्य

प्रबुद्ध पाठकों के समक्ष लाला लाजपतराय कृत पं० गुरुदत्त विद्यार्थी के अंग्रेजी जीवनचरित के हिन्दी अनुवाद को प्रस्तुत करते हुए हमें अपार प्रसन्नता हो रही है। पं० गुरुदत्त आर्यसमाज के विगत वैदिक विद्वानों में शीर्षस्थ स्थान रखते हैं। केवल पच्चीस वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने आर्यसमाज और वैदिक धर्म की जो महती सेवा की, वैसा करना दीर्घायु प्राप्त लोगों के लिए भी सम्भव नहीं हुआ। पं० गुरुदत्त की कोई उल्लेखनीय विस्तृत जीवनी, सिवाय डॉ० रामप्रकाश, (प्रोफेसर, पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़) द्वारा लिखित जीवन-चरित के, आज पाठकों को उपलब्ध नहीं हैं। यों छोटे-छोटे जीवन चरित तो अनेक लिखे गये, जो प्रायः अनुपलब्ध ही हैं।

प्रस्तुत जीवन चरित का महत्त्व कुछ विशिष्ट कारणों से भी है, जिनका उल्लेख में यहाँ कर रहा हूँ। सर्वप्रथम तो इस पुस्तक की प्राचीनता की ओर दृष्टिपात करें। इसका प्रकाशन आज से लगभग एक शताब्दी पूर्व १८९१ में उस समय हुआ, जब पं० गुरुदत्त का निधन हुए मुक्किल से एक वर्ष ही हुआ था और पुस्तक के लेखक लालाजी हिसार में वकालत करते थे। पं० गुरुदत्त का जन्म २६ अप्रैल, १८६४ को तथा उनका परलोकगमन १९ मार्च, १८९० को हुआ था। इस प्रकार वे अपने जीवन के छब्बीस वर्ष भी पूरे नहीं कर सके थे। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में दूसरी उल्लेख योग्य बात यह है कि इसकी रचना देश के एक महान् नेता और स्वतन्त्रता सेनानी, पंजाब केसरी लाला लाजपतराय की यशस्वी लेखनी से हुई है, जो स्वयं पं० गुरुदत्त के सहपाठी ही नहीं, आयु में उनसे केवल एक वर्ष ही छोटे थे। पुनः यह भी ध्यातव्य है कि पं० गुरुदत्त और लाला लाजपतराय न केवल सहपाठी ही थे, किन्तु एक-दूसरे के अभिन्न मित्र भी थे। दोनों का आर्यसमाज में प्रवेश लगभग एक ही समय या एक ही दिन में हुआ था और उन्हें इस महान् संस्थान में प्रविष्ट कराने वाले महापुरुष भी आर्यसमाज की पुरानी पीढ़ी के सर्वमान्य नेता लाला सार्दीदास थे। महात्मा मुन्शीराम जैसी एक अन्य हस्ती को आर्यसमाज में लाने का श्रेय भी इसी महापुरुष को है।

जीवन चरित लेखक के लिए आवश्यक है कि अपने कथानायक के बारे में

उसकी जानकारी भरपूर, प्रामाणिक तथा अधिकृत हो। लाला लाजपतराय के लिए पं० गुरुदत्त के जीवन विषयक तथ्यों का संग्रह तथा उन्हें व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करना कोई कठिन कार्य नहीं था। वे स्वयं डी० एं० बी० कालेज लाहौर की स्थापना के आन्दोलन में पं० गुरुदत्त के निकट सहयोगी और साक्षी थे। यह दूसरी बात है कि आगे चलकर लाला लाजपतराय का सम्बन्ध आर्यसमाज के उस घड़े के साथ हो गया जो कल्चर्ड दल के नाम से जाना गया और जो पं० गुरुदत्त तथा उनके साथियों से कई बातों में भिन्न मत रखता था। तथापि लालाजी के लेखन की निष्पक्षता तथा सदाशयता का प्रमाण इस ग्रन्थ की एक-एक पंक्ति से मिलता है।

इस पुस्तक को पढ़ने से कुछ अन्य बातें भी हमारे ध्यान में आती हैं। यद्यपि लाला लाजपतराय आगे चलकर भारत की राजनीति में एक प्रकाशमान नक्षत्र की भाँति चमके, किन्तु अपने युवाकाल में जब वे आर्यसमाज आन्दोलन के अधिक निकट थे, उस समय की शास्त्रीय अध्ययन में उनकी गहन अभिरुचि का पता भी इसी पुस्तक के अध्याय संख्या १०, ११ और १२ से लगता है। उन्होंने पं० गुरुदत्त रचित ग्रन्थों को न केवल गम्भीरता से पढ़ा ही था, अपितु वे उनके द्वारा किये गये ईश और माण्डूक्य उपनिषदों की व्याख्याओं की तुलना पश्चिमी लेखक आर्चिबाल्ड गफ, ब्रह्मसमाज के संस्थापक राजाराम मोहनराय-पं० भीमसेन शर्मा द्वारा लिखित टीकाओं से करते हैं तथा पं० गुरुदत्त कृत अर्थों की श्रेष्ठता, शुद्धता एवं प्रामाणिकता को भी सिद्ध करते हैं। यह एक ही तथ्य इस बात को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है कि पुरानी पीढ़ी के आर्यसमाजी अपने धर्म ग्रन्थों और शास्त्रीय-ग्रन्थों में छिपे तथ्यों को आत्मसात करने के लिए कितने उत्सुक रहते थे।

प्रस्तुत पुस्तक की एक अन्य विशिष्टता यह भी है कि यह लाला लाजपतराय की प्रथम प्रकाशित पुस्तक है। कालान्तर में उनकी अनेक पुस्तकें उर्दू एवं अंग्रेजी में छपीं, किन्तु पं० गुरुदत्त के इस जीवनी लेखन ने ही आगे के उनके जीवन-चरित लेखन के मार्ग को प्रशस्त किया था जिसके अन्तर्गत गेरीबाल्डी और मैजिनी जैसे इटली के देश भक्तों के अतिरिक्त श्रीकृष्ण, शिवाजी तथा स्वामी दयानन्द जैसे भारतवर्षीय महापुरुषों के जीवन की रूपरेखाएँ भी उनकी मार्मिक लेखनी से प्रसूत होकर पाठकों के समक्ष आईं।

एक भाषा से अन्य भाषा में अनुवाद करना कष्टसाध्य तो होता ही है, किन्तु अंग्रेजी जैसी सशक्त विदेशी भाषा का सरल, धारावाही और बोधप्रद अनुवाद करना तो और भी कठिन है। पाठक स्वयं देखें कि आर्यसमाज के इस युवा मनीषी की जीवनी का प्रस्तुत अनुवाद कैसा बन पड़ा है। विगत में भी मैंने लाला जी की एक अन्य पुस्तक 'दि आर्यसमाज' तथा स्वामी अद्धानन्द के एक ग्रन्थ 'इनसाइड काग्रेस' एवं उनकी अन्य अंग्रेजी कृतियों का सुबोध हिन्दी अनुवाद किया ही है।

पुस्तक के अन्त के कुछ परिशिष्ट तो स्वयं लालाजी ने ही संगृहीत किये थे । मैंने पं० गुरुदत्त के द्वारा प्रणीत ग्रन्थों की विवेचना एवं उनके द्वारा रचित ग्रन्थों की सूची के साथ-साथ विभिन्न भाषाओं में लिखे गये उनके जीवन चरितों की सूची भी पाठकों के ज्ञानार्थ परिशिष्ट रूप में दे दी है । पुस्तक को प्रकाशित करने का श्रेय आर्य प्रकाशन दिल्ली के स्वामी श्री तिलकराज आर्य को है और पाण्डुलिपि के स्वच्छ टंकण के लिए मेरे विभाग के हिन्दी टंकक श्री होशियार सिंह हमारे साधुवाद के पात्र हैं । आशा है आर्य मनीषी गुरुदत्त की निर्वाण शती (१९६०) के पावन अवसर पर प्रकाशित होने वाली उनकी यह प्रथम जीवनगाथा पाठकों को जीवन्त निर्माण के लिए नवीन दिशा देगी ।

रामनवमी २०४६ वि०
 दयानन्द शोध पीठ,
 पंजाब विश्वविद्यालय,
 चण्डीगढ़-१६००१४

आर्य (सामाजिक) साहित्य का
 अकिंचन सेवक,
 भवानीलाल भारतीय

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक—“पं० गुरुदत्त विद्यार्थी: जीवन और कार्य”—पाठकों के हाथ में है। इस पुस्तक की विशेषता को तो पाठक आदि से अन्त तक पढ़कर ही पूरी तरह से जान सकेंगे, परन्तु हमारे लिये इस पुस्तक का महत्व इस कारण से भी है कि यह देश के अपने समय के सुप्रसिद्ध और अत्यन्त लोकप्रिय राष्ट्र नेता पंजाब केसरी लाला लाजपतराय की लिखी हुई है। लाला जी की यह पहली कृति है जो उन्होंने अंग्रेजी में लिखी थी और अब से लगभग १०० वर्ष पहले छपी थी।

इस पुस्तक के कथ्य की प्रामाणिकता इसी बात से स्पष्ट होती है कि लाला लाजपतराय पं० गुरुदत्त विद्यार्थी के केवल अभिन्न साथी ही नहीं थे, प्रत्युत सह-पाठी भी थे और दोनों साथ ही साथ ऋषि दयानन्द की विचारधारा से प्रभावित होकर आर्यसमाज में आये थे।

ऋषि दयानन्द के पश्चात् आर्यसमाज के दृढ़ निष्ठावान नेताओं की जो सबसे पहली पीढ़ी थी उसके अत्यन्त देदीप्यमान उज्ज्वल नक्षत्र थे पं० गुरुदत्त विद्यार्थी। परन्तु यह देश और आर्यसमाज का दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि उनके जैसा ऋषि दयानन्द का अनुरक्त भक्त और उनके उपदेशों के अनुसार अपने जीवन को ढालने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील, उस समय के विद्वानों में भी अग्र-गण्य, यह तेजस्वी व्यक्तित्व केवल २६ वर्ष की आयु में ही इहलोक को छोड़कर चला गया। डी० ए० बी० आन्दोलन को आरम्भ करने और उसे जन-जन तक पहुँचाकर लोकप्रिय बनाने में जितना योग लाला जी का और पं० गुरुदत्त विद्यार्थी का है उतना कदाचित किसी अन्य व्यक्ति का नहीं है। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि बाद में गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के पुरस्कर्ताओं में भी पं० गुरुदत्त विद्यार्थी का अनन्य योगदान रहा है।

और तीसरी विशेषता इस पुस्तक की यह है कि डॉ० भवानीलाल भारतीय जैसे सुधी और आर्यसमाज तथा ऋषि दयानन्द सम्बन्धी सामग्री की शोध के लिए जीवन अर्पित कर देने वाले विद्वान् इसके अनुवादक हैं।

पं० गुरुदत्त विद्यार्थी के जीवन के सम्बन्ध में जितनी कम जानकारी उपलब्ध है उसे देखते हुए यह विश्वास करना चाहिए कि उस अद्भुत व्यक्तित्व के सम्बन्ध में लालाजी जैसे महान व्यक्ति द्वारा लिखी गई यह पुस्तक आर्य जनता का स्नेह और आदर निश्चित रूप से प्राप्त करेगी।

क्षितीश वेदालंकार

२०-२-६०

सम्पादक : आर्य जगत्, मन्दिर मार्ग,

नई दिल्ली-११०००१

लेखक की भूमिका

अत्यन्त संकोच तथा यह जानते हुए कि साहित्यिक शैली तथा जीवन-चरित लेखन की दृष्टि से मेरा यह प्रयास बहुत कुछ त्रुटिपूर्ण है, मैं इस पुस्तक को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ। उस स्वर्गीय व्यक्ति के प्रति अत्यधिक कृतज्ञता के भाव ने ही मुझे उसके जीवन के इस संक्षिप्त विवरण को लिखने की प्रेरणा दी है। वह मेरा अत्यन्त निकट का, स्नेहिल तथा बहुत पुराना मित्र था। यदि ऐसा नहीं होता, तो मैं इस कार्य को करने में अपनी अपात्रता को देखते हुए ऐसी धृष्टता कदापि नहीं करता। जब मैंने देखा कि मुझसे अधिक योग्य तथा सम्मानित महानुभाव या तो समयभाव के कारण, या इस कार्य में रुचि न होने से इस जीवनचरित को लिखने में प्रवृत्त नहीं हो रहे हैं, तो इस कार्य को अपना एक कर्तव्य मानकर तथा इसमें लगे परिश्रम को ही पुरस्कार समझकर मैंने इसमें प्रवृत्त होना उचित समझा। मुझे पाठकों की उदारता तथा सहानुभूति में पूरा विश्वास है तथा मैं समझता हूँ कि वे निम्न बिन्दुओं पर अवधानपूर्वक विचार करने के पश्चात् अपनी निर्णयात्मक सम्मति अवश्य देंगे।

१. अंग्रेजी भाषा में इतने बड़े आकार का ग्रन्थ लिखने का लेखक का यह पहला ही प्रयास है।

२. हमारे देश के लोग अभी तक महापुरुषों के जीवनचरितों के महत्त्व को पूर्णतया हृदयंगम नहीं कर सके हैं। यही कारण है कि जीवनचरित प्रणेता को अपने ग्रन्थ को लिखने तथा तदर्थ सामग्री संग्रह करने में जितनी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं वे प्रायः दुर्लभ ही होती हैं। यह कहना तो और खेदपूर्ण है कि आर्यसमाजी जनता भी इसका अपवाद नहीं है। कुछ सज्जनों को छोड़कर, जिनके प्रति मैं अपना आभार प्रदर्शित करूँगा, पं० गुरुदत्त विद्यार्थी के अनेक मित्रों और प्रशंसकों ने उनके बारे में एक पंक्ति की सूचना भी मुझे नहीं दी।

३. इस पुस्तक का लेखक पेशे से वकील है, अतः अदालती कामों में व्यस्त रहने के कारण वह अपनी साहित्यिक अभिरुचि को तृप्त करने के लिए बहुत कम समय निकाल पाता है।

४. लाहौर से दो सौ मील दूर रहने के कारण लेखक को मुद्रण के समय इस

पुस्तक के प्रूफ देखने की सुविधा भी नहीं मिली थी।

५. हमारे देश के लोगों में स्वदेश-वासियों द्वारा लिखे गये ग्रन्थों के प्रति उपेक्षा का भाव दीख पड़ता है। इस तथा कतिपय अन्य कारणों से, जिनका उल्लेख आवश्यक नहीं है, प्रकाशक ने भी इस पुस्तक को छपाने में प्रचुर द्रव्य व्यय नहीं किया है।

जिन महानुभावों के पास पं० गुरुदत्त विद्यार्थी की जीवनी के सम्बन्ध में बहुत कुछ सामग्री थी, उन्होंने भी उसे इस लेखक को उपलब्ध नहीं कराया। इस दुःखद स्थिति पर खेद प्रकट करने के पश्चात् मैं उन लोगों के प्रति सार्वजनिक रूप से आभार प्रदर्शित करता हूँ, जिन्होंने इस सामान्य कृति के प्रणयन में मेरी सहायता की है।

सर्वप्रथम मैं मुलतान के वकील चेतनानन्द, बी० ए० एल० एल० बी० को धन्यवाद अर्पित करता हूँ जिनके द्वारा प्रदत्त सामग्री की सहायता से इस पुस्तक के तीन प्रारम्भिक अध्याय लिखे गये। इसके पश्चात् मैं लाला जयचन्द तथा चिरंजीत के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने पं० गुरुदत्त के बारे में उर्दू में अपने लम्बे संस्मरण लिखे। इन संस्मरणों से पण्डित जी की प्रवृत्तियों और कार्यों के बारे में मेरी व्यक्तिगत जानकारी की पुष्टि हुई। मैं पं० रामभजदत्त का भी आभारी हूँ, जिन्होंने पण्डित जी की डायरियों से आवश्यक उद्धरण एकत्र किये।

सर्वाधिक कृतज्ञ मैं गवर्नमेंट कालेज लाहौर के श्री डब्ल्यू० बेल एम० ए० का हूँ जिन्होंने पुस्तक की पाण्डुलिपि को आरम्भ से अन्त तक पढ़ा तथा प्रेस में भेजे जाने से पहले उसमें कुछ संशोधन भी किये। साथ ही उन्होंने पुस्तक के लगभग आधे भाग का प्रूफ संशोधन भी किया। प्रत्येक आर्य को इस उत्तम प्रवृत्ति वाले प्रोफेसर का साधुवाद करना चाहिए, उनके द्वारा इस पाण्डुलिपि को पढ़े जाने से लेखक को अपार प्रोत्साहन तथा सन्तोष मिला है।

मैं प्रो० मैक्समूलर, श्री गफ तथा श्री रमेशचन्द्र दत्त के प्रति भी हार्दिक धन्यवाद अर्पित करता हूँ क्योंकि इस पुस्तक की रचना के दौरान मैंने उनकी कृतियों का उपयोग किया है। प्रो० मैक्समूलर के ग्रन्थों से लिए उद्धरण इस बात को सिद्ध करते हैं कि वैदिक साहित्य को भली भाँति हृदयंगम करने में उनके ग्रन्थ चाहे हमारा समग्र मार्गदर्शन न कर पायें, किन्तु समस्त भाषाओं की जननी संस्कृत के अध्ययन में उनकी निष्ठा तथा उनकी विशाल हृदयता कम नहीं है। उनके हाल ही में प्रकाशित ग्रन्थ इस बात के प्रमाण हैं कि हवा का रख अब बदल रहा है और प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करेगा कि ज्यों-ज्यों इस व्यक्ति (मैक्समूलर) का अध्ययन अधिक गहन होता जायगा, वह प्राचीन भारतीय साहित्य की प्रशंसा उतनी ही अधिक निष्ठा तथा तत्परता से करेगा। मैंने प्रो० मैक्समूलर द्वारा किए गये वेदार्थ को पं० गुरुदत्त विद्यार्थी द्वारा किये गये अर्थों के समक्ष इसीलिए रखा

है ताकि भेरे देशवासी वैदिक-साहित्य के अध्ययन में स्वतन्त्र शोध वृत्ति को अपनायें तथा वैदिक पदों की व्याख्या में सर्वाधिक प्राचीन प्रमाणों को ही अंगीकार करें।

यदि इस लघु ग्रन्थ के दूसरे संस्करण के निकलने का कोई अवसर आता है तो उस समय इसे अधिक रोचक, परिपूर्ण तथा यथाशक्ति अधिक तथ्याधारित बनाने का प्रयास किया जायगा। एक बात लिखकर मैं अपने कथन को समाप्त करूँ। मास्टर दुर्गाप्रसाद के प्रति मैं अपना आभार व्यक्त करूँगा जिन्होंने अनन्य उत्साह और त्याग भाव से पुस्तक के मुद्रणकार्य को गति दी। इन्हीं शब्दों के साथ पाठकों से निवेदन करूँगा कि वे अगले पृष्ठों को पढ़ें, जो निश्चय ही अनेक त्रुटियों और अपूर्णताओं से युक्त हैं।

हिसार

—लाजपतराय

२१ जून, १८९१

विषय-सूची

अध्याय-१—पूर्वज तथा कुल-परिचय	१३
अध्याय-२—प्रारम्भिक शिक्षा	१८
अध्याय-३—कालेज का जीवन	२७
अध्याय-४—(भाग-१) पं० गुरुदत्त का प्रचार कार्य	४६
अध्याय-४—(भाग-२) कुछ व्यक्तिगत प्रसंग	५३
अध्याय-५—पिता का निधन	६०
अध्याय-६—पं० गुरुदत्त का डी. ए. बी. कालेज के लिए पुरुषार्थ	७१
अध्याय-७—व्यवसाय का चयन	८८
अध्याय-८—पं० गुरुदत्त के जीवन का अन्तिम वर्ष	९८
अध्याय-९—पं० गुरुदत्त का स्वभाव और आचरण	११५
अध्याय-१०—पं० गुरुदत्त का लेखन कार्य	११९
अध्याय-११—उपनिषदों के भाष्य	१३८
अध्याय-१२—पं० गुरुदत्त के अन्य ग्रन्थ	१६४
अध्याय-१३—पं० गुरुदत्त और योग	१६९
परिशिष्ट-अ—शोक सन्देश	१७३
परिशिष्ट-ब—डी० ए० बी० कालेज में संस्कृत की स्थिति	१७४
परिशिष्ट-स—राय मूलराज का पत्र	१८२
परिशिष्ट-द—मांसाहार निषेध विषयक प्रमाण	१८३
परिशिष्ट-१—पं० गुरुदत्त विद्यार्थी ग्रन्थमाला	१८५
परिशिष्ट-२—पं० गुरुदत्त विद्यार्थी के जीवनी ग्रन्थ	१९०
पादटिप्पणी	१९३

अध्याय १

पूर्वज तथा कुल-परिचय

पंजाब ने अंग्रेजी शासन के दौरान जिन सुख्यात साहित्यिक व्यक्तियों को जन्म दिया है उनमें पं० गुरुदत्त विद्यार्थी एम० ए० का नाम सर्वप्रथम लिया जाना पंजाबियों जैसी स्वस्थ, वफादार तथा युद्धप्रिय जाति के सर्वथा अनुकूल ही है। उन्होंने धर्म की वेदी पर स्वजीवन का बलिदान कर दिया और यह उस जाति की रीति के अनुरूप ही था, जिसमें उनका जन्म हुआ था। वे विख्यात 'पवार सदाना' वंश के राजा जगदीश के कुल में उत्पन्न हुए थे। परम्परा से यह जाना जाता है कि राजा जगदीश ने अपने जीवन को किसी उच्च साहसपूर्ण कृत्य के लिए समर्पित कर दिया था। शायद अत्याचारी मुसलमानों के क्रूरतापूर्ण व्यवहार से स्वधर्म और स्वदेश को बचाने के लिए ही उन्होंने अपने जीवन को न्योछावर किया था। उस समय से उनको तथा उनके वंशजों को 'सरदाना' के नाम से पुकारा जाने लगा, जिसका अभिप्राय है 'सर देने वाला'। जनसाधारण ने इसे 'सदाना' कहना आरम्भ कर दिया। ऊपर उल्लिखित राजा के वंशज आज भी 'सदाना' कहलाते हैं। अतः हम यह जानते हैं कि पं० गुरुदत्त विद्यार्थी जन्म से ही सरदाना (अपने सिर को स्वधर्म हितार्थ अर्पित करने वाले थे।) वस्तुतः अपने इसी पूर्वज से पं० गुरुदत्त ने चरित्र की वह शक्ति प्राप्त की, जिसने उनके अति संक्षिप्त जीवन के समस्त कार्यों और कथनों को प्रभावित किया था। अतः यह कहना ठीक ही है कि जिसे वे सत्य समझते थे उसका निर्भीकतापूर्वक प्रचार करने में आने वाली कठिनाइयों तथा त्याग एवं बलिदान को झेलने में वे सदा तत्पर रहे। धरती पर वास्तविक धर्म की पुनः स्थापना के लिए किए जाने वाले पुरुषार्थ और प्रयत्न से उन्हें जो सन्तोष प्राप्त होता था, उसकी तुलना में व्यक्तिगत हित और आराम को उन्होंने कभी काम्य नहीं समझा। उनके महान् पूर्वज ने अपने सिर का बलिदान ऐसे कार्य हेतु किया था, जिसे वह सत्य समझता था और उसी के महान् वंशज ने भी अपने सर्वस्व का त्याग ऐसे ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया, जिसे वह परिपूर्ण सत्य मानता था। वस्तुतः यह पौत्र अपने

पितामह की विरासत का सच्चा रक्षक ही था ।

उनके वंश-वृक्ष पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि पं० गुरुदत्त एक विख्यात कुल के वंशधर थे । उनके दादा और परदादा अपने समय में प्रचुर ख्याति और प्रभाव रखते थे । उनके प्रपितामह मेहता गिरधारीलाल काबुल के अमीर के दरबार में बहावलपुर के नवाब के प्रतिनिधि थे । यह भाग्य की विडम्बना ही थी कि सिरदाना वंश के राजा जगदीश के वंशज को एक मुसलमान शासक की सेवा में रहना पड़ा । मेहता गिरधारीलाल के वंशजों को मुलतान के प्रसिद्ध एवं न्यायशील दीवान सावनमल से पूर्ण सम्मान प्राप्त हुआ था । दीवान उन्हें अपना मित्र कहकर पुकारता था । जब कभी वे मुलतान जाते, सरकारी घुड़सवार सेना उनके साथ रहती । पं० गुरुदत्त के पिता लाला रामकृष्ण फारसी के विद्वान् थे । वे एक ऐसे साधु स्वभाव वाले शिक्षक थे जिन्होंने पंजाब के शिक्षा विभाग को उस समय अपने ज्ञान से प्रकाशित किया, जिस समय वह अपनी शैशवावस्था में ही था । पण्डितजी के माता-पिता मध्यम कद तथा सुगठित शरीरयुक्त थे । उन्हें उतना ही सुदृढ़ तथा तेजस्वी मस्तिष्क भी मिला था । पं० गुरुदत्त की आकृति भी अपने माता-पिता के तुल्य ही थी, अन्तर इतना ही था कि उनका ललाट अपनी माता की भाँति सुविशाल और प्रशस्त नहीं था । उनकी माता भारत के उस महिला वर्ग का प्रतिनिधित्व करती थी, जो यह जानता है कि अपेक्षाकृत कम आमदनी में भी अपने परिवार का पालन सुन्दर ढंग से किस प्रकार किया जाता है । कारण यह था कि पं० गुरुदत्त के पिता को सरकारी सेवा से अवकाश लेते समय मात्र ६० रुपया मासिक ही वेतन के रूप में मिलता था । जहाँ तक पढ़ने-लिखने का सवाल है, वे भी आजकल की हिन्दू महिलाओं की भाँति पूर्णतया अशिक्षित थीं । उन्हें अपने बच्चों से अत्यधिक प्यार था, किन्तु पं० गुरुदत्त विद्यार्थी तो मानो उनके प्रेम के प्रतिमान ही थे । उनमें बला की सहनशीलता थी, जैसी प्रायः दूसरों में नहीं देखी जाती । मेरे एक मित्र ने, जो पण्डितजी का भी मित्र था, मुझे बताया है कि स्त्री होने पर भी वे जानती थीं कि दुर्भाग्य का सामना किस प्रकार पुरुषोचित साहस से किया जाता है । अपने पिता के प्रति पं० गुरुदत्त का असीम सम्मान था और वे इसके पात्र भी थे । उनमें अपूर्व स्मरणशक्ति थी जो आगे चलकर

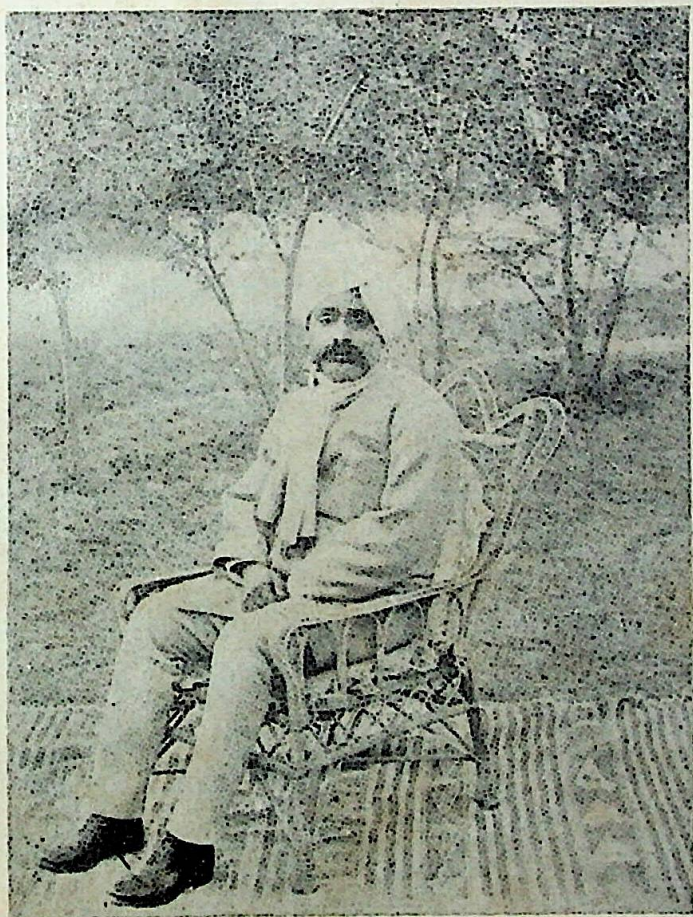
पं० गुरुदत्त में पूर्णरूपेण विकसित हुई। अपनी मृत्यु के एक वर्ष पूर्व अपने पुत्र की असीम प्रेरणा से उन्होंने संस्कृत सीखना आरम्भ किया। छः मास की अवधि में ही उन्होंने इसमें पर्याप्त प्रगति कर ली तथा इस अवधि के समाप्त होते-होते उन्होंने अपने पुत्र को संस्कृत में पत्र लिख डाला, जो प्रायः पूर्णतया शुद्ध ही थी। पं० गुरुदत्त के पिता के स्वभाव में थोड़ी जल्दबाजी थी, इसलिए उनके सहकर्मी अध्यापक उन्हें 'खुश्की' (अल्पभाषी) कहकर सम्बोधित करते थे। उनमें रहस्यवादी की-सी प्रवृत्ति भी थी और यही रहस्यवादिता उनके पुत्र में अधिक सशक्त बनकर उभरी। सम्भवतः यह उन्हें अपने पिता से दाय रूप में ही मिली थी। उनके पिता का जन्म १८२२ ई० में हुआ था और २६ अप्रैल १८६४ ई० (६ वैशाख १९२१ वि०) को लाला रामकृष्ण और उनकी पत्नी की एक मात्र पुरुष सन्तान पं० गुरुदत्त का जन्म हुआ।

अपने माता-पिता की सन्तानों में पं० गुरुदत्त सबसे छोटे थे और इस प्रकार उन्होंने इस कहावत को सिद्ध कर दिखाया कि सबसे छोटा पुत्र सबसे अधिक फुर्तीला होता है। एक अमेरिकन दार्शनिक के शब्दों में, जिसके प्रति पं० गुरुदत्त ने भी अत्यधिक सम्मान प्रकट किया है, वे अपने जन्म के समय की दृष्टि से अत्यन्त सौभाग्यशाली थे। उक्त दार्शनिक के विचारानुसार जन्म का सर्वाधिक सौभाग्यशाली समय तब होता है जब माता की आयु ३० और ४५ के बीच में और पिता की ३५ और ५० के बीच में हो। वह दावे के साथ कहता है कि स्वस्थ एवं बुद्धिमान बच्चे, शारीरिक और बौद्धिक दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ, उन्हीं माता-पिता से जन्म लेते हैं जो शारीरिक विकास की दृष्टि से अधिक प्रौढ़ होते हैं। अपने कथन की पुष्टि में उसने ऐसे नामों की एक लम्बी सूची भी प्रस्तुत की है और मुझे भी यह कहने में प्रसन्नता होती है कि इस जीवनचरित का विषय भी इस नियम की पुष्टि करना ही है, जिसमें कहा गया है कि सन्तान की मानसिक शक्ति के लिए उनके माता-पिता के विवाह की आयु की परिपक्वता आवश्यक होती है।

यद्यपि पं० गुरुदत्त के पिता फारसी के विद्वान् थे, किन्तु ऐसा लगता है कि योग की दिव्य शक्तियों में उनकी पूर्ण आस्था थी। क्योंकि जैसाकि हम जानते हैं, जब प्रौढ़ अवस्था में पहुँच जाने पर भी उन्हें पुत्र-जन्म का लाभ नहीं मिला, तो पण्डितजी के माता-पिता

ने अपने गुरु से इस सम्बन्ध में विनय की, तथा यह समझा जाता है कि गुरु से की गई इस प्रार्थना के ही परिणाम रूप में उनका जन्म हुआ। मैंने जिस तथ्य का ऊपर उल्लेख किया है उसके लिए मैं क्षमा-प्रार्थी अवश्य हूँ क्योंकि पं० गुरुदत्त के जीवन लेखन के प्रसंग में यह बात चाहे अन्धविश्वासयुक्त ही क्यों न लगती हो, तथापि मेरा कर्तव्य हो जाता है कि मैं उस प्रत्येक घटना को उल्लिखित कर ही दूँ, चाहे वह हमारे लिए कितनी ही अनुकूल या प्रतिकूल क्यों न हो।

हिन्दुओं में यह रिवाज है कि बच्चे के जन्म के साथ ही उसे कोई-न-कोई नाम दे दिया जाता है, बेशक कुछ समय बाद उससे अधिक सुन्दर तथा रुचिपूर्ण नाम देकर पहले दिए नाम को बदल भी दिया जाता है। इसी रीति के अनुसार जन्म के समय से ही गुरुदत्त को 'मूला' के नाम से पुकारा जाने लगा। यह उनका जन्म-नाम था और इसी नाम से उनकी जन्मपत्री बनाई गई। पं० गुरुदत्त की जन्मपत्रिका में भी यही नाम उल्लिखित है, किन्तु शब्द की अन्तिम 'आ' की मात्रा का प्रयोग न होने के कारण वहाँ यह 'मूल' इस रूप में आया है। मूल का तो अर्थ ही मूलधन या मूल तत्त्व (वास्तविकता) होता है। इस प्रकार आकस्मिक रूप में ही पं० गुरुदत्त का यह जन्म-नाम उनके वास्तविक चरित्र को सही अर्थ में चरितार्थ करने वाला बन गया। स्वल्प काल पश्चात् यह छोटा बालक अपने पिता का आध्यात्मिक पथदर्शक भी बन गया। अब पिता उसे प्रसन्नतापूर्वक 'वैरागी' नाम से सम्बोधित करने लगे। प्रत्येक हिन्दू परिवार का कोई-न-कोई गुरु या पुरोहित होता है। प्राचीन समय में तो ये गुरु तथा पुरोहित गम्भीर विद्यायुक्त तथा तपस्वी होते थे और इस प्रकार वे अपने यजमान परिवार के लिए परम लाभदायक भी होते थे, किन्तु आजकल इनकी स्थिति अशिक्षित आवाराओं तथा भिक्षुओं से अधिक भिन्न नहीं है। यदि इनमें से कुछ लोग पढ़ना-लिखना भी जानते हैं तो वह उतना ही होता है जिससे कि वे अपने यजमानों के घरों में विवाह या मृत्यु जैसे अवसरों पर संस्कारादि को सम्पन्न कराते समय केवल मन्त्रों का उच्चारण कर सकें। किन्तु प्रथम दृष्टि में ही लगता है कि गुरुदत्त के पिता का गुरु कुछ ऐसी शक्ति से सम्पन्न था, जो प्रायः अपवाद रूप में ही मिलती है, अन्यथा वह कुछ ही महीनों के बालक के धार्मिक भविष्य



लाला लाजपतराय (1908)

इस पुस्तक के लेखक तथा पण्डित गुरुदत्त के सहपाठी जो
भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में देश पर बलिदान हो गये ।



के बारे में ऐसी यथार्थ भविष्यवाणी नहीं करता। प्रायः 'वैरागी' शब्द का प्रयोग उस व्यक्ति के लिए होता है जो सांसारिक लक्ष्यों और कामनाओं को सर्वथा त्याग कर ईश्वरोपासना तथा मुनन-त्रिन्तनयुक्त जीवन व्यतीत करता है। अर्थात् एक ऐसा आदमी, जो अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किसी भी वस्तु का त्याग करने की सामर्थ्य रखता है। इस प्रकार 'वैरागी' से हम एक ऐसे व्यक्ति का अभिप्राय लेंगे जो विश्वब्रह्माण्ड के अज्ञात स्वामी परमात्मा से प्रगाढ़ प्रेम रखता है तथा उससे वियुक्त होने का विचार मात्र भी उसे असह्य होता है। आप मुझे यह कहने की आज्ञा दें कि आज तो यह शब्द उन पतित तथा गये-गुजरे दुष्टों का ही पर्याय बन गया है, जब कि वे इस नाम को धारण करने लिए सर्वथा अनुपयुक्त हैं। वस्तुतः ऐसे लोग भारत के सार्वत्रिक पतन के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

कुछ महीनों के बालक को वैरागी के नाम से पुकारना सचमुच महत्त्वपूर्ण था। यह भी सम्भव है कि इस नाम को देने वाला खुद रहस्यों को जानने में सक्षम हो अथवा इसे सर्वथा आकस्मिक भी कहा जा सकता है। प्रायः माता-पिता ऐसे नाम दिया जाना पसन्द नहीं करते, और यह भी समझा जा सकता है कि मात्र गुरु का आदेश मानकर ही गुरुदत्त के माता-पिता ने इस नाम पर आपत्ति नहीं की और अपने प्रिय पुत्र को वैरागी नाम से सम्बोधित करना स्वीकार किया। चाहे जो हो, इस बालक को तो वैरागी बनना ही था। बालक तो मनुष्य का पिता ही होता है।^३

एक बार और उसके नाम को बदलने का अवसर आया और इस बार ऐसा उसके जन्म-प्रसंग को लेकर हुआ। गुरुदत्त अभी १२ वर्ष के ही हुए होंगे कि उनके माता-पिता उन्हें हरिद्वार ले गये। यहाँ गोस्वामी राघालाल ने उन्हें एक नया नाम दिया। १२ वर्ष के वैरागी को अब 'गुरुदत्त' के नाम से पुकारा जाने लगा जिसका अर्थ ही होता है गुरु से प्राप्त। गुरुणा दत्त—गुरु से दिया गया। पं० गुरुदत्त के माता-पिता का अपने गुरु के प्रति अत्यधिक कृतज्ञता भाव भी इसी तथ्य से सूचित होता है क्योंकि वे अपने प्यारे पुत्र के जन्म के पीछे गुरु का कृपा-भाव ही मानते थे। इसके पश्चात् वे अपना नाम 'पं० गुरुदत्त विद्यार्थी' लिखने लगे, जिसका अर्थ होता है ईश्वरप्रदत्त ज्ञान को विनयपूर्वक ग्रहण करने वाला छात्र।

अध्याय २

प्रारम्भिक शिक्षा

शिक्षा ही मनुष्य का निर्माण करती है, यह एक ऐसा सत्य है जिसका प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता। शिक्षा की एक अच्छी तथा ठोस प्रणाली बालक के माता-पिता के लिए तो सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती ही है, उसकी उपयोगिता राष्ट्र के लिए भी है क्योंकि किसी राष्ट्र की शिक्षा को देखकर ही उसके बारे में धारणा बनाई जाती है। किसी समाज की श्रेष्ठता उसके नागरिकों की भद्रता पर निर्भर होती है। बालकों को जन्म देने वाले माता-पिताओं को इस बात से सचेत और सावधान रहना चाहिए कि जिन सन्तानों को वे उत्पन्न कर रहे हैं, वे समाज को क्या कुछ अच्छा या बुरा देने की स्थिति में हैं। जो अपने बच्चों की शिक्षा की अवहेलना करते हैं, वे वास्तव में मानवता के शत्रु ही हैं। अतः मनुष्य जाति के प्रति उनके इस अपराध को अत्यन्त निन्दनीय मानना चाहिए। तथापि हम तो यही कहेंगे कि हमारे कथानायक वैरागी के पिता इस मामले में बहुत सावधान थे और वे इस तथ्य से भी अवगत थे कि शिक्षा का आरम्भ घर से ही होता है। इन्होंने गुरुदत्त की प्रारम्भिक शिक्षा में पूरी दिलचस्पी ली। इसकी जानकारी हमें उनकी आरम्भिक पढ़ाई के विवरण से मिलती है, जो पण्डितजी ने स्वयं ही अपने किसी मित्र को बताया था।

अभी वैरागी मात्र ५ वर्ष का ही था कि उसे घर में ही वर्णमाला का ज्ञान करा दिया गया। उसके पिता ने पढ़ाने का एक बहुत अच्छा तरीका निकाला था—पढ़ने के लिए कोई न कोई प्रलोभन देना तथा दण्ड देने से बचना। उन्होंने अपने पुत्र के प्रति कभी क्रोध का प्रदर्शन नहीं किया, और न ही कोई ऐसा प्रयत्न किया जिससे बालक की

कोमल भावनाओं का दमन होता हो। गणित का ज्ञान उन्होंने हमारे देश में प्रचलित उस पुरानी प्रणाली से ही कराया, जिसके द्वारा वच्चा अपनी याददाश्त के बल पर ही बड़ी संख्याओं का परस्पर गुणा कर सकता है। इस तरीके से वह अपनी स्मृति शक्ति का भी विकास करता है। गुरुदत्त के पिता अपने द्वारा ही पुत्र को शिक्षित करने के विषय में अत्यन्त उत्साही थे अतः उन्होंने उसे प्रारम्भिक अंग्रेजी सिखाने का कार्य भी किसी दूसरे पर नहीं छोड़ा। अपने पुत्र के हित में उन्होंने स्वयं पर्याप्त वृद्ध हो जाने पर भी अंग्रेजी पढ़ना जारी रक्खा ताकि वे खुद ही गुरुदत्त को पढ़ा सकें। उन्होंने कर्नल डब्लू० आर० एम० होलरायड लिखित अंग्रेजी की प्रारम्भिक पुस्तक पढ़ी जिसका शीर्षक था—‘अंग्रेजी बोलना कैसे सीखें?’ और इसी की सहायता से उन्होंने अपने पुत्र को अंग्रेजी के पाठ सिखाये। ८ वर्ष की आयु में हमारे वैरागी महाशय को झंग के जिला स्कूल में दाखिल कराया गया, जहाँ उनके पिता स्वयं अध्यापक थे। इस विद्यालय में प्रविष्ट होने के पहले ही गुरुदत्त ने फारसी तथा उर्दू की अनेक पुस्तकें पढ़ डालीं तथा अपनी कक्षा में भी अच्छी प्रगति की। झंग में रहते हुए उसने प्रसिद्ध सन्त मौलाना रूमी की कविताएँ पढ़ीं, साथ ही शम्स तबरेज का काव्य एवं ‘दीवान ए हाफिज’ भी पढ़ डाला। इन फारसी काव्यों से उसका आजीवन प्रेम रहा। झंग में उसकी पढ़ाई कुछ वर्षों तक चलती रही और यहीं से उसने पंजाब के शिक्षा विभाग की ऐंग्लोवर्नाक्यूलर मिडिल स्कूल परीक्षा पास की और आयु के ११वें वर्ष में मुलतान के हाई स्कूल में प्रवेश ले लिया। इस अल्पावस्था में भी उसने अपनी असाधारण बौद्धिक शक्ति के अनेक नमूने दिखाये। एक किस्सा प्रचलित है, जिसमें कहा गया है कि उसने एक उर्दू उद्धरण का फारसी में तुरन्त तर्जुमा कर दिया था। एक अन्य बात यह भी सुनी गई कि उसने एक ही दिन में पोट्स द्वारा लिखित यूक्लिड की प्रथम पुस्तक में दिये गये सभी निगमनों को हल कर दिया था। पं० गुरुदत्त के भोजन के बारे में उनके पिता अत्यन्त सावधान थे। दूध और पेड़ा उसका नियमित पौष्टिक भोजन था। अपने बचपन से ही मांसाहार के प्रति उसकी विरक्त थी क्योंकि यह ज्ञात हुआ है कि एक बार उसके पिता ने मांस न खाने के कारण उसे बुरा-भला कहा था। किन्तु उसने दृढ़ता के साथ मांस न खाने की

घोषणा कर दी और उसके पिता को इसे मानना पड़ा। जब तक पं० गुरुदत्त अपने पिता के नियन्त्रण में रहे, उन्हें भोजन और अन्य बालकों की संगत के बारे में पिता का कठोर अनुशासन स्वीकार करना ही पड़ा। इसी का परिणाम था कि उनकी वाणी और अभिव्यक्ति में कभी फूहड़पन नहीं आया। उनकी मजबूत पाचन-शक्ति का कारण भी यही था कि वे अपने भोजन में नियमित थे तथा अनुशासित ढंग से कसरत करते थे। व्यायाम का उन्हें शौक भी था।

यदि हमारे पास पं० गुरुदत्त के पिता के सम्बन्ध की कुछ और जानकारी होती तो हम उसकी तुलना सुप्रसिद्ध अंग्रेज विचारक जॉन स्टुअर्ट मिल के पिता से करते। यदि सभी माता-पिता अपने बच्चों की उन्नति में इतनी और इसी प्रकार की रुचि लें तो कोई आश्चर्य नहीं कि हमें अपने आसपास अनेक गुरुदत्त विद्यार्थी और जॉन स्टुअर्ट मिल दिखाई पड़ें। जरा सोचें, ऐसी स्थिति कितनी स्पृहणीय होगी।

बहुत पहले ही पं० गुरुदत्त के हाथों में एक पुस्तक आई और इसे उसने उत्कण्ठापूर्वक पढ़ डाला। पुस्तक का नाम था—‘आइना ए मजहब हुनूद’ अर्थात् हिन्दू धर्म दर्पण। इस पुस्तक को पढ़कर वह ‘अनहद’ का जप करने लगा। ‘अनहद’ शब्द परमात्मा के अनेक नामों में से एक है। इसके पश्चात् उसने प्राणायाम करना आरम्भ किया जो योग की आरम्भिक सीढ़ी माना जाता है और जिसका करना सभी आयों का कर्त्तव्य माना गया है। स्पष्ट ही है कि ‘मसनवी मौलाना रूम’ तथा इसी कोटि के अन्य ग्रन्थों के अध्ययन ने, उनके कोमल मन पर बड़ा प्रभाव डाला। अनहद का जाप और प्राणायाम की साधना वे अपनी मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण करने के पहले से ही कर रहे थे। एक बार जब उनकी माता ने उन्हें प्राणायाम करते देखा तो बच्चों द्वारा की जाने वाली इस प्रकार की क्रियाओं को अनुपयोगी बताते हुए उन्होंने इस पर आपत्ति भी की। इसके उत्तर में उन्होंने कहा, “माताजी देखिए, आसमान की ओर देखिए। चमकते हुए तारों को देखिए। निश्चय ही इनका बनाने वाला कोई-न-कोई अवश्य होगा। मैं उस तक पहुँचने का रास्ता तलाश कर रहा हूँ। आप भी ऐसा ही करें।” इस काल के दौरान वे आकाश-पिण्डों (ग्रहों, नक्षत्रों और तारों) की ओर निर्निमेष एवं दत्तावधान होकर देखा करते थे।

धार्मिक जीवन जीने का यह एक बहुत ही उचित और उपयुक्त प्रकार था। किन्तु अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन ने भी अपना प्रभाव डाला और अब वह सृष्टि के रचयिता के अस्तित्व के प्रति ही शंकाशील हो उठा जबकि पहले तो वह आकाश-पिण्डों के निर्माता के रूप में उसकी प्रशंसा करता था। इसी समय लुधियाने के विख्यात दार्शनिक मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी^५ की रचनाओं ने उसे नास्तिकता के मार्ग पर और आगे बढ़ा दिया। उन दिनों अनेक महान् आत्माओं पर सन्देहवाद का प्रभाव पड़ने लगा था तथा गम्भीर धार्मिक प्रकृति के लोग भी यूरोपियन विचारधारा के अप्रत्याशित आगमन के कारण अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठे थे। परिणाम यह हुआ कि हिन्दू लोग अपने तथा अपने पूर्वजों के धर्म के प्रति घृणा का भाव रखने लगे थे। साथ ही वे अपने धर्म तथा राष्ट्रीयता का भी तिरस्कार कर रहे थे। ऐसे ही समय में उनके एक परित्राता का आविर्भाव हुआ। यह सत्य ही है कि जब हिन्दू लोग अपने विरोधियों के द्वारा कुचले जा रहे थे, जब वे नास्तिक बन रहे थे अथवा ईसाई और मुसलमानों के आगे हाथ फैलाकर अपनी मुक्ति की भीख माँग रहे थे, उसी समय एक विदेशी विचारक^६ के शब्दों में—

“आर्यसमाज रूपी भट्टी में एक प्रचण्ड अग्नि धधक उठी। यह ज्वाला भारत में ईश्वर के प्रेरित पुत्र दयानन्द के हृदय में उत्पन्न होकर प्रज्वलित हुई थी^७।” इस अग्नि की लपटें सर्वत्र फैलती चली गईं और स्वामी दयानन्द की शिक्षाओं ने पंजाब के सभी दूरवर्ती प्रान्त-भागों में बसने वाले हिन्दू समाज को हिलाकर रख दिया। नवयुवक गुरुदत्त विद्यार्थी ने स्वामीजी के इन मन्तव्यों को सुना तथा उन पर विचार किया। झग छोड़कर जब वह मुलतान के हाई स्कूल में प्रविष्ट होने के लिए आया, उस समय उसकी मनोदशा ऐसी ही थी।

यहाँ अन्य विषयों के अतिरिक्त उसने आरम्भिक विज्ञान का भी अध्ययन किया, जिसका कि आगे चलकर उसे सफल अध्येता बनना था। वह अपने मुख्याध्यापक श्री एम० एम० सरकार का प्रिय विद्यार्थी था जिन्होंने पढ़ने योग्य पुस्तकों को छांटने में उसकी सहायता की। यहाँ उसने स्कूल के पुस्तकालय का भरपूर लाभ उठाया, जिसके बारे में कहा जाता है कि उसने उसकी सारी पुस्तकें पढ़ डाली थीं। उसने एक अन्य पुस्तकालय से भी लाभ उठाया जो

लंगा खाँ बाग में था। यहाँ के कुछ चुने हुए ग्रन्थ उसने पढ़े। मास्टर दयाराम से उसे बाइबिल इन इण्डिया,^१ इण्डिया इन ग्रीस^२ तथा इसिस अनवील्ड^३ तथा इसी किस्म की कुछ अन्य पुस्तकें मिलीं, जिन्हें उसने पढ़ डाला।

बचपन से ही उसे आश्चर्यजनक, तीव्र स्मरणशक्ति तथा ज्ञान प्राप्त करने की अदम्य पिपासा मिली थी। कालेज के दिनों में उसने अपनी इस आश्चर्यकर स्मृति को प्रमाणित किया जब कि उसने अपने श्रोताओं को नामों की एक ऐसी लम्बी सूची को यथावत सुना दिया, जिसमें उल्लिखित नाम एक-दूसरे से सन्दर्भ की दृष्टि से तो नितान्त भिन्न थे ही, वे उसके सम्मुख केवल एक बार ही पढ़कर सुनाये गये थे। एक बार डा० लाइटनर^४ के आग्रह से उसने गवर्नमेंट कालेज लाहौर में कुछ विशिष्ट आगन्तुकों के सम्मुख अपनी इसी अद्भुत स्मरणशक्ति का प्रदर्शन भी किया था।

इस प्रकार की ईश्वरप्रदत्त देन के साथ-साथ उसमें अध्ययन के लिए एक सहज और दुर्जेय इच्छा भी थी, जिसके कारण अपनी बुद्धि तथा विचार-शक्ति में थोड़ा भी सम्भ्रम उत्पन्न किये बिना एक विषय का अभ्यास करने के साथ-साथ दूसरे विषय को भी सहज रूप से अंगीकार कर लेता था। इस कथन की वास्तविकता को पाठक स्वयं स्वीकार करेंगे जब उन्हें ज्ञात होगा कि उस समय गुरुदत्त विद्यार्थी की आयु कठिनाई से अठारह वर्ष की होगी और उन्होंने अरबी, फारसी, संस्कृत, उर्दू तथा अंग्रेजी का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। ये सभी भाषाएँ उनके लिए पराई ही थीं क्योंकि उनकी अपनी मातृभाषा तो मुलतानी थी जो पंजाबी की ही एक बोली है। इन भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने के अतिरिक्त उन्होंने वे सभी विषय अत्यन्त योग्यता के साथ अधिगत कर लिये, जिनका ज्ञान पंजाब विश्वविद्यालय की प्रवेशिका परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए आवश्यक माना जाता था—अर्थात् इंग्लैण्ड तथा भारत का इतिहास, सामान्य तथा भौतिक भूगोल, गणित तथा आरम्भिक विज्ञान। फारसी पर उन्हें पूर्ण अधिकार प्राप्त था, उन्होंने मौलाना रूम की मसनवी तथा अन्य ग्रन्थ पढ़ लिये थे। संस्कृत में उन्होंने अष्टाध्यायी का एक बार अध्ययन कर लिया था। अरबी में उन्होंने सरफमीर नहवमीर आदि पढ़ा। अंग्रेजी का तो वह अच्छा विद्वान् बन गया

क्योंकि उसने शेक्सपियर, मिल्टन, कूपर आदि को पढ़ डाला था। जहाँ तक उर्दू का सवाल है, उसका अध्ययन पंजाब विश्वविद्यालय की प्रवेशिका परीक्षा में सफलता प्राप्त कराने में पर्याप्त था। सम्पूर्ण प्रान्त में सफल विद्यार्थियों की सूची में पाँचवाँ स्थान प्राप्त कर उसने यह परीक्षा पास कर ली। इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि उसने लाहौर में, कालेज में प्रविष्ट होने के पहले, तर्कशास्त्र, दर्शन, मनोविज्ञान तथा भौतिक-विज्ञान के अनेक ग्रन्थ पढ़ डाले थे। उसके सहपाठी और मित्र लाला चेतनानन्द बी० ए० लिखते हैं कि जब मिडिल की परीक्षा पास कर गुरुदत्त झंग से मुलतान आए थे, तो वे पक्के नास्तिक थे। उन्होंने संस्कृत का अध्ययन उस समय आरम्भ किया, जब वे मुलतान हाईस्कूल के छात्र थे। इसका आरम्भ बैलेन्टाइन" द्वारा लिखित 'संस्कृत-व्याकरण के सरल पाठ' शीर्षक पुस्तक से हुआ। इस पुस्तक को समाप्त करने के पश्चात् उन्होंने दयानन्द सरस्वती-कृत वेद भाष्य भूमिका का संस्कृत भाग पढ़ना आरम्भ किया। इसमें जहाँ उन्हें कठिनाई प्रतीत होती, वे शब्द-कोशों की सहायता लेते। वे संस्कृत सीखने वाले अपने मित्रों से बैलेन्टाइन की उक्त पुस्तक को पढ़ने की सदा सिफारिश करते थे।

इसके पश्चात् वे स्थानीय आर्यसमाज के अधिकारियों के पास गए तथा उनसे अनुरोध किया कि उन्हें वेद पढ़ाने के लिए वे किसी सुयोग्य पण्डित की व्यवस्था करें। साथ ही यह भी कहा कि यदि वे ऐसा नहीं कर पाते हैं तो उन्हें मजबूर होकर यह सोचना पड़ेगा कि वेदों में मूर्खतापूर्ण बातों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, और वे खुले आम इस धारणा का प्रचार भी करेंगे। पं० गुरुदत्त की यह माँग सर्वथा न्यायोचित तथा उनके स्वभाव के अनुकूल ही थी। उनकी यह प्रार्थना स्वीकृत हुई और परिणामस्वरूप पं० अक्षयानन्द को मुलतान भेजा गया। पं० अक्षयानन्द से उन्होंने पाणिनि-कृत अष्टाध्यायी पढ़ना आरम्भ किया। पं० गुरुदत्त के साथी भगत रैमल^{१२} ने, जो इस अध्ययन में उनके साथी थे, इस लेखक को बताया कि पं० अक्षयानन्द अपने शिष्य की आशा के अनुरूप सिद्ध नहीं हुए। वे गुरुदत्त जैसे असाधारण प्रतिभासम्पन्न शिष्य की जिज्ञासावृत्ति को सन्तुष्ट नहीं कर सके, अतः उन्हें पुनः अपने साधनों पर ही निर्भर होना पड़ा। उनकी संस्कृत व्याकरण विषयक प्रगति इतनी तीव्र थी

कि मात्र डेढ़ महीने में उन्होंने अष्टाध्यायी के डेढ़ अध्याय पूरे कर लिये। यह तो पता नहीं चलता कि अवशिष्ट अध्याय उन्होंने किससे पढ़े, परन्तु प्रायः उनसे यही सुनने को मिला कि उन्होंने अष्टाध्यायी का अध्ययन नौ मास में पूरा कर लिया था। इन्हीं दिनों में स्थानीय आर्यसमाज ने उनकी अष्टाध्यायी, आर्योद्देश्यरत्नमाला तथा वेद-भाष्यभूमिका में परीक्षा ली और उन्हें पुरस्कार रूप में 'भूमिका' की एक प्रति दी गई। जब वे स्कूल में थे, उन्हें अंग्रेजी तथा फारसी में पद्य-रचना का शौक था। शायद उनकी यह रुचि आगे चलकर समाप्त हो गई क्योंकि इसके बाद हमने उन्हें कभी काव्य-रचना करते नहीं देखा।

अब हम उनकी धार्मिक अभिरुचियों की पुनः चर्चा करें। मुलतान में गुरुदत्त के आने के पहले ही आर्यसमाज की स्थापना हो गई थी तथा कुछ कार्यकर्ता सामाजिक काम में जुट गए थे। उनके साथियों में लाला चेतनानन्द तथा रैमलदास पक्के आर्य थे, तथा पं० गुरुदत्त अपने इन मित्रों से ईश्वर की सत्ता जैसे गूढ़ विषयों पर वाद-विवाद करते थे। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण¹³ भी पढ़ा। इस प्रकार अपने इन मित्रों की सहायता तथा संस्कृत के अध्ययन से अन्ततः उन्हें सचाई का ज्ञान हुआ और वे न केवल आस्तिक अपितु आर्यसमाजी भी बन गए। २० जून १८८० को उन्होंने आर्यसमाज की सदस्यता का प्रार्थनापत्र भरा और आर्यसमाज मुलतान के सभा-सद बने। वह दिन वस्तुतः सौभाग्यशाली था जब उन्होंने सत्य के मार्ग पर कदम रक्खा और उसे अन्त तक नहीं छोड़ा तथा अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक उस पर आरुढ़ रहे। इस दौरान उनके स्वभाव में कुछ जिद्दीपन दिखाई पड़ा जिसे देखकर लोगों को आश्चर्य होता था। उदाहरणार्थ, गर्मियों में स्कूल बन्द होने पर सीधे और निकट के रास्ते से घर आने की अपेक्षा वे शहर से बाहर वाला लम्बा और चक्करदार रास्ता चुनते और बिना छाता लगाये घर आते। अब वे क्रिकेट के खेल में दिलचस्पी लेने लगे तथा अन्य खेलों में भी भाग लेते। दूसरे छात्रों के साथ दौड़ में प्रथम आते। छात्रा-वस्था में ही वे अपनी सत्यनिष्ठा के कारण प्रशंसित आचरण वाले समझे गये। एक बार जब स्कूल के विद्यार्थियों में किसी बात पर झगड़ा हो गया, तो उनके तथा उनके साथी रैमलदास के कथन को

दूसरे पक्ष के समस्त विद्यार्थियों की अपेक्षा सत्य माना गया तथा तदनुकूल ही मुख्याध्यापक ने निर्णय भी दिया। जब यह मामला आगे विद्यालयों के निरीक्षक तक पहुँचा तो उसने भी इन लड़कों के कथन की सच्चाई के आधार पर दिये गये निर्णय को ही स्वीकार किया तथा मुख्याध्यापक द्वारा दिये आदेश को यथावत् रक्खा। इन दिनों में भी पं० गुरुदत्त की योग में रुचि यथापूर्व रही और वे अपने रहस्यवादी स्वभाव के कारण चर्चित हुए। एक बार मुलतान में एक संन्यासी आये, जिनके बारे में लोगों का कहना था कि उनकी आयु १२० वर्ष की है, जब कि वे वैसे ही दिखाई देते थे जब २० वर्ष पूर्व मुलतान आने पर लोगों ने उन्हें देखा था। एक प्रत्यक्षदर्शी ने कहा कि उनके शरीर पर एक भी बाल सफेद नहीं था। और ये महात्मा ३० वर्ष के युवक दिखाई देते थे यद्यपि वे नित्य प्रति भोजन में मात्र सात ग्रास ही खाते थे। पं० गुरुदत्त के चाचा कमलनयन, जो जंगल में इस साधु के साथ ६ वर्ष तक रह चुके थे, उन्हें अपने साथ लेकर उक्त संन्यासी के पास गये। संन्यासी ने युवक गुरुदत्त को आशीर्वाद दिया। इसके पश्चात् इन दोनों में निम्न वार्तालाप हुआ—

पं० गुरुदत्त—महाराज, योग सीखने का सर्वोत्तम उपाय क्या है ? पतंजलि उपदिष्ट पद्धति या कोई अन्य ?

संन्यासी—पतंजलि द्वारा बताया तरीका ही सर्वोत्तम है, अन्य सभी कल्पित हैं।

पं० गुरुदत्त—आप स्वामी दयानन्द के बारे में क्या कुछ जानते हैं ?

संन्यासी—हाँ, हम लोग जंगलों में साथ रहे हैं। एक स्थान पर हम दोनों एक पण्डित के पास जाया करते थे, जो भागवतपुराण पढ़ता था। स्वामी दयानन्द इसे सुनकर प्रायः क्रुद्ध हो जाते थे। तब मैं उनको यह कहकर शान्त करता था कि संन्यासी को क्रोध नहीं करना चाहिए।

पं० गुरुदत्त—क्या वेदों में सभी विद्याएँ मूल रूप में हैं ?

संन्यासी—हाँ, हैं।

पं० गुरुदत्त—क्या सेना का नियन्त्रण तथा फौजी कवायद आदि की बातें भी वेदों में हैं ?

संन्यासी—हाँ, मैं स्वयं यह सब जानता हूँ और किन्हीं ६

व्यक्तियों को इसे सिखा भी सकता हूँ, यदि वे मेरे साथ जंगल में चलने के लिए तैयार हों। मैं उन्हें रामायण और महाभारत काल में प्रचलित युद्ध-विद्या भी सिखाऊँगा।

पं० गुरुदत्त—स्वामीजी, आपने किन-किन स्थानों को देखा है तथा कहाँ-कहाँ गये हैं ?

संन्यासी—प्रायः मैंने सारी दुनिया देखी है। मैं अलास्का और बहिरंग तक गया हूँ। संस्कृत में अलास्का के लिए अलावर्त देश शब्द का प्रयोग हुआ है।

पं० गुरुदत्त—क्या आप उन देशों की भाषाएँ भी जानते हैं ? यदि ऐसा है तो बतायें कि रूसी भाषा कैसे बोली जाती है।

संन्यासी—हाँ, मैं बोल तो सकता हूँ। परन्तु यदि मैं रूसी भाषा बोलूँ और तुम उसे न समझ सको, तो उसका लाभ ही क्या ? इतना कहना ही पर्याप्त है कि इस भाषा में व्यंजनों की बहुतायत है।

कुछ देर चुप रहने के बाद गुरुदत्त ने इस साधु को कोई ऐसी औषधि बताने के लिए कहा जो उसकी स्मरणशक्ति और बुद्धि को तीक्ष्ण बना सके। संन्यासी ने उसे एक नुस्खा लिखकर दिया जो स्वामी दयानन्द-कृत संस्कारविधि में निर्दिष्ट नुस्खे के अनुकूल ही था। इसमें कुछ अन्य जड़ी-बूटियों के अतिरिक्त ब्राह्मी, तथा शतावरी आदि का उल्लेख था। इस घटना के साथ हम पं० गुरुदत्त के विद्यालय-जीवन के प्रसंग को समाप्त करते हैं और उसे लाहौर के कालेज में गया हुआ देखते हैं।

अध्याय ३

कालेज का जीवन

जनवरी १८८१ में गुरुदत्त ने गवर्नमेण्ट कालेज लाहौर में प्रवेश लिया। इससे पहले वाले वर्ष के नवम्बर में उसने पंजाब यूनिवर्सिटी कालेज से मैट्रिक की परीक्षा पास की तथा समस्त प्रान्त में उसका स्थान पाँचवाँ था। प्रथम स्थान पं० गुरुदत्त के ही सहपाठी तथा मित्र, मुलतान के लाला चेतनानन्द को प्राप्त हुआ। अपने प्राध्यापकों के मनो पर अद्भुत प्रभावे स्थापित करने में पं० गुरुदत्त को अधिक समय नहीं लगा और कालेज में प्रविष्ट होने के थोड़े दिन बाद ही उसके अध्यापकों तथा छात्रों ने अनुभव किया कि उनके बीच में एक ऐसा विद्यार्थी आया है जो अंसामान्य-प्रतिभा का धनी है। अध्यापक तथा छात्र-समुदाय ने उसे अपने बीच पाकर एक वरिष्ठ शक्ति के संस्पर्श का अनुभव किया तथा थोड़े समय में ही गुरुदत्त का नाम विद्यार्थी जीवन की दिव्यता का प्रतीक बन गया। जिन गुणों ने कालेज जीवन के उसके साथियों को प्रभावित किया था वे थे— विचार स्वातन्त्र्य, उदार भावापन्नता, बहुश्रुतता, अपने विचारों को सुबोध एवं प्रांजल शैली में प्रस्तुत करने की क्षमता तथा वक्तृत्व शक्ति का ऐसा प्रभाव, जो श्रोताओं पर अमित छाप छोड़ जाता है। कालेज जीवन के उसके आरम्भिक काल के कुछ साथियों और सहयोगियों के नाम इस प्रकार हैं—लेखक स्वयं, लाला हंसराज बी० ए०,^{१५} (एक अन्य महान् आत्मा, जिसने अपने शरीर और आत्मा को देशहित के लिए समर्पित कर दिया है) दीवान नरेन्द्रनाथ एम० ए०, (सहायक आयुक्त) लाला शिवनाथ सी० ई०, (अधीक्षक अभियन्ता) लाला भगतराम बी० ए० मुंसिफ, लाला चेतनानन्द बी० ए० वकील, लाला रुचिराम एम० ए० गवर्नमेण्ट कालेज लाहौर

में विज्ञान के सहायक प्राध्यापक । अपने कालेज जीवन के प्रारम्भिक दिनों में वे अपने मित्रों, सहपाठियों तथा अन्य लोगों से ईश्वर के अस्तित्व, जीव के पुनर्जन्म तथा ईश्वरीय ज्ञान जैसे विषयों पर वाद-विवाद करते थे । उनके वाद-विवाद का ढंग कुछ अजीब तरह का था । हालाँकि वे आर्यसमाज के सदस्य थे, किन्तु वाद-विवाद में वे हमेशा विपक्षी की भूमिका अपनाते तथा अपने प्रतिद्वन्द्वी को ईश्वर तथा आत्मा की सत्ता हेतु प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए कहते । उनके द्वारा प्रस्तुत हेतुओं और तर्कों को वे काट देते और इस प्रकार उनके विश्वास को आघात पहुँचाते । इससे बहुधा लोग सोचते और उनका यह सोचना एक प्रकार से ठीक ही था कि पं० गुरुदत्त नास्तिक हैं । पं० गुरुदत्त ब्रैडला,¹⁴ जॉन स्टुअर्टमिल,¹⁵ बेन तथा डार्विन¹⁶ जैसे दार्शनिक विचारकों का रूचिपूर्वक अध्ययन करते थे । उनकी दृष्टि में मनुष्य के कर्मों का नियन्त्रक उसकी अन्तःचेतना ही होती है । इसी आधार पर वह अपने विरोधियों के तर्कों का प्रतिकार कर देते । उनकी यह तर्कप्रणाली प्रसिद्ध आचारशास्त्री बेन के अनुकूल थी ।

आर्य मैगजीन¹⁷ के अगस्त १८८२ के अंक में प्रकाशित एक लेख का निम्न उद्धरण हमारे कथन की पुष्टि करेगा । 'सद्-असद् विवेक' (Conscience) शीर्षक लेख के अन्तर्गत पं० गुरुदत्त लिखते हैं—“जिन संस्थाओं ने हमारे देश के पढ़े-लिखे वर्ग पर विशेष प्रभाव डाला है, उनमें ब्रह्मसमाज का नाम उल्लेख योग्य है । जो लोग इस तथा अन्य समाजों की प्रगति के बारे में जानकारी रखते हैं, वे यह भली भाँति जानते हैं कि किसी समाज के अधिक प्रबुद्ध लोगों के विचारों का उनसे कम विचारशील लोगों द्वारा ग्रहण किया जाना स्वाभाविक ही है । यद्यपि ब्रह्मसमाज के संस्थापक तथा उसके कुछ प्रमुख प्रचारकों ने सद्-असद् विवेक के सिद्धान्त को बहुत अधिक महत्त्व नहीं दिया था, तथापि आज इस समाज के सदस्यों तथा इससे सहानुभूति रखने वाले लोगों में इस सिद्धान्त की वरीयता देते हुए देखा जाता है । इस विचार को लेकर ब्राह्म लोगों की धारणा सहजानुभूतिवादियों के तुल्य ही है । इस विचारधारा के अनुयायियों का मत है कि हममें नैतिकता विषयक एक प्रकार की सहजात वृत्ति होती है, जो हमें सही और गलत, अच्छे और बुरे में विवेक करना उसी प्रकार सिखाती है जिस प्रकार आँखों को रंगों का सहज ज्ञान होता है । जो

लोग इस सिद्धान्त के विरोधी हैं, वे मानते हैं कि सहजानुभूति कोई सहजात वृत्ति नहीं है, वस्तुतः इसे हमें प्रयासपूर्वक प्राप्त करना पड़ता है। यह प्रवृत्ति अन्यो से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है और इसे भी अनुभव तथा संगति से प्राप्त किया जाता है। इसके पहले कि हम सहजानुभूति की व्याख्या करें, हम अपने पाठकों को उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं का अन्तर बताना चाहेंगे।

“दर्शन के इन दो सम्प्रदायों—सहजानुभूति से अर्जित ज्ञान तथा अनुभव और संगति से प्राप्त ज्ञान का अन्तर केवल सूक्ष्म अनुमान पर ही आधारित नहीं है, अपितु इसके व्यावहारिक परिणाम भी निकलते हैं तथा प्रगति के इस युग में इसका महत्त्व भी निर्विवाद है। एक व्यावहारिक सुधारक सदा यह माँग करता है कि लोगों में व्याप्त धारणाओं के अनुकूल समाज में परिवर्तन किया जाना चाहिए। वह स्थापित परम्पराओं और मान्यताओं को अस्वीकार भी करता है। ऐसा करते समय वह इसी बात को ध्यान में रखता है कि लोगों में व्याप्त इन धारणाओं का आखिर मूल क्या है? इसलिए ऐसे परिवर्तनवादी सुधारक और यथास्थितिवादी के बीच एक प्रकार का विरोध-भाव रहता है, क्योंकि समाज में यथास्थिति बनाये रखने का समर्थन करने वाला व्यक्ति तो अपने अनुकूल सिद्धान्तों को सहजात वृत्ति कहने का आदी हो जाता है और इस तथाकथित आत्मादेश को ईश्वर या कुदरत की आवाज मान बैठता है।”

“उन्नीसवीं शताब्दी के एक महान् दार्शनिक की लेखनी से निकले उक्त भाव, सुधार की तुलना में सहजानुभूति के सिद्धान्त की अयुक्तता सिद्ध करते हैं तथा इसे सुधार और प्रगति का विरोधी मानते हैं। यद्यपि इस प्रकार के चिन्तन ने अभी तक अकर्मण्यता तथा रूढ़िवाद के भावों को तो प्रोत्साहन नहीं दिया है तथापि भविष्य में ऐसा होने की सम्भावना है। हमारा पक्का विश्वास है कि इस प्रकार की प्रवृत्ति महान् सामाजिक प्रश्नों के समाधान में एक बड़ी रुकावट है तथा मानव के मन्तव्यों की इस त्रुटि की ओर ब्राह्म सुधारकों का ध्यान अवश्य जाना चाहिए। यदि इस प्रवृत्ति का कोई दुष्परिणाम नहीं हुआ होता तो हम इसका कदापि विरोध नहीं करते। किन्तु दुर्भाग्य की बात तो यह है कि इस प्रवृत्ति के वशवर्ती होकर लोग कभी-कभी ऐसे काम कर बैठते हैं जिसके कारण हमें अपने आपसे यह

सवाल पूछना ही पड़ता है कि क्या मुझे अपनी इस सहज वृत्ति का आदेश मानना चाहिए ?

“हम यह दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि जब एक विनम्र हिन्दू किसी मूर्ति के आगे श्रद्धापूर्वक नत होता है तथा अपने मनोवांछित को प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करता है, तो उसके मन में उस प्रतिमा के प्रति पूर्ण सम्मान का भाव ही होता है। इसी प्रकार जब मूर्तिभंजक महमूद ने सोमनाथ की मूल्यवान प्रतिमा को तोड़ा था, तो उसके मन में मूर्ति के प्रति उतना ही तीव्र विरक्तता का भाव भी था। यही बात उस ब्राह्म उपासक के लिए भी कही जा सकती है जो परमात्मा के समक्ष विशुद्ध मन, पूर्ण पवित्रता एवं शान्ति के साथ अपनी प्रार्थना को प्रस्तुत करता है। यदि ये सभी तथ्य सत्य हैं तो हमें यह मानना ही होगा कि यदि सहजानुभूति की यह प्रवृत्ति सहजात होने के कारण सबमें एक-सी होती, तो एक मूर्तिपूजक हिन्दू, एक मूर्तिभंजक मुसलमान और एक निराकारोपासक ब्राह्म की उपर्युक्त धारणाओं में भिन्नता नहीं आती। अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि ये सब प्रवृत्तियाँ मनुष्य के भावों और विचारों से ही दिशानिर्देश लेती हैं और इन्हें मोड़ देने में शिक्षा और संगति की भी प्रभावी भूमिका रहती है।”

“अन्ततः वह प्रभावी शक्ति कौन-सी है ? जब एक वच्चा झूठ बोलने में संकोच करता है तो उसके मन में क्या बात होती है, क्या वह अपने माता-पिता की नाराजगी के भय से ऐसा करता है या उन्हें प्रसन्न करने के लिए। अथवा अपने साथियों की अप्रसन्नता या प्रसन्नता का भाव उसके मन में होता है। वस्तुतः मनुष्य के व्यवहार को प्रतिबन्धित करने वाली वह कौन-सी शक्ति है—निश्चय ही अपने संगी-साथियों की प्रसन्नता या अप्रसन्नता अथवा नरक का भय या स्वर्ग प्राप्त करने की आशा ही उसके कार्यों का नियामक बनती है।”

“अन्ततः हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमारे बाह्य भय या आशाएँ जिस अनुपात में जागृत होंगे तथा हमारे मस्तिष्क पर अनुकूल या प्रतिकूल संवेदनाओं का जैसा और जितना आघात होगा, उसी अनुपात में हमारी सहज प्रवृत्ति भी मृदु या कठोर बनेगी। मनुष्य के मन में भावनाओं का एक पुंज तो पहले से ही विद्यमान रहता

है और यही हमारे कार्यों का दिशा-निर्देश करते हैं। जब हम पूर्व उपस्थित भावनाओं के प्रतिकूल कोई कार्य करते हैं तो यह भाव-पुंज उसका प्रतिरोध करता है और अन्ततः पश्चात्ताप का रूप ले लेता है। जब उसकी ये पूर्व प्रतिष्ठित भावनाएँ अधिक शक्तिशाली होती हैं तो मनुष्य उनके विपरीत आचरण करने में संकोच करता है। इसे ही आत्मा की धर्मभीरुता कहा गया है। यदि मनुष्य के नैतिक आचरण का ऊपरकथित रूप सही है तब तो उसकी सहजानुभूति को सहजात कहना कठिन ही है, अपितु इसमें तो सत्य और मिथ्या सम्पर्कों का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। यह शिक्षा और बाह्य प्रभावों से प्रभावित और परिष्कृत भी किया जा सकता है। अतः इसे किसी सुदृढ़ नैतिकता का तर्कपूर्ण आधार कहना ठीक नहीं होगा।”

प्रारम्भिक कालेज जीवन में गुरुदत्त विद्यार्थी ने अपने विचारों के निर्माण में जिस व्यक्ति को अपना पथप्रदर्शक बनाया, वह था प्रसिद्ध अंग्रेज विचारक जेरेमी बेन्थम। पं० गुरुदत्त बेन्थम के उपयोगितावाद^३ के सिद्धान्त के प्रबल समर्थक थे तथा इसे ही मनुष्य के कामों के अच्छे या बुरे होने का निर्णायक मानते थे। उनकी धारणा थी कि स्वामी दयानन्द सरस्वती भी इसी सिद्धान्त के व्याख्याता थे तथा वेदों में इसी उपयोगितावाद की चर्चा है। हम पुनः उसी लेख को यहाँ उद्धृत करेंगे जिसके अन्तिम भाग में पण्डित गुरुदत्त लिखते हैं—“नैतिक कामों से भिन्न नैतिकता का कोई अस्तित्व नहीं है तथा मनुष्य की नैतिकता के अतिरिक्त नैतिक कामों का भी अस्तित्व नहीं है। तो क्या नैतिकता का कोई भिन्न मापदण्ड भी नहीं है? क्या नैतिकता की अवधारणा ही व्यर्थ तथा शून्यप्राय है। हम तो मानते हैं कि तथाकथित सहजानुभूति की अपेक्षा नैतिकता का आधार अधिक गहरा है।”

“यह आधार मानवता की सामाजिक संवेदनाओं से जुड़ा है। इसे सहानुभूति का भाव भी कहा जा सकता है, क्योंकि हम अपने साथी प्राणियों के सुख अथवा दुःख को देखकर स्वयं भी सुखी या दुःखी होते हैं। सहानुभूति के भाव पर आधारित नैतिकता के सिद्धान्त की हम पूरी विवेचना नहीं करेंगे किन्तु अपने पाठकों से अनुरोध अवश्य करेंगे कि इसके लिए वे बेन्थम से लेकर जान स्टुअर्ट मिल तक के

विचारकों को पढ़ें। इतना कहना ही पर्याप्त है कि सहजानुभूति का भाव ही उपयोगितावाद का आधार है क्योंकि हम उन कामों को ही नैतिक या अनैतिक कहते हैं जो जनसाधारण को प्रसन्न या दुखी करते हैं और यही नैतिक आचरण का सिद्धान्त है। अन्त में हम अपने पाठकों से अनुरोध करेंगे कि वे सहजानुभूति के सम्बन्ध में ब्रह्मसमाज की स्थिति की तुलना आर्यसमाज के अनुयायी आर्यों द्वारा प्रतिपादित नैतिकता के सिद्धान्त से करें तथा यह देखें कि इनमें से कौन-सा मत जनसामान्य की खुशियों को बढ़ाता है। हमारा निश्चित विश्वास है कि आर्यसमाज के अतिरिक्त और कोई संस्था अधिक देशभक्त, समाज के लिए अधिक उपकारक तथा लोगों की प्रगति में अधिक रुचि लेने वाली नहीं है।

यहाँ हम स्वामी दयानन्द सरस्वती लिखित एक प्रशंसनीय पुस्तक 'गोकरुणानिधि' का उद्धरण तुलना की दृष्टि से दे रहे हैं।

(द्रष्टव्य-पाद टिप्पणी २० अ)

आर्यसमाज का उद्देश्य संसार से बुराई तथा सन्ताप को मिटाकर सबके हित का साधन करना है। वे काम जो मनुष्यों के सुख को बढ़ाने की अपेक्षा उनके लिए अधिक बाधाएँ उत्पन्न करते हैं, समाज उन्हें अनैतिक कहता है। किन्तु जो व्यक्ति निःस्पृह भाव से जनसामान्य की भलाई के लिए काम करता है, समाज उसे ही आदर तथा सम्मान देता है।'

यह तो सत्य है कि अपने कालेज-जीवन के आरम्भ काल में पं० गुरुदत्त बेन्थम को जितना आदर देते थे, समय के साथ उसमें कमी भी आई, किन्तु यह तो मानना ही होगा कि इंग्लैण्ड के इस सर्वश्रेष्ठ नीतिशास्त्री के प्रति उनकी भावना, सम्मान और कृतज्ञता से कदापि भिन्न नहीं थी। वे सदा मानते रहे कि संसार के नीतिशास्त्रियों में बेन्थम सर्वोच्च हैं तथा आचारशास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी को उसका अध्ययन करना ही चाहिए, भले ही वह आर्य, मुसलमान, ईसाई या बौद्ध ही क्यों न हो। अपने जीवन के अवशिष्ट काल में उन्होंने पुरातन आर्य साहित्य का अवधानपूर्वक गम्भीर अध्ययन किया। इससे उन्हें ऐसी नैतिक शिक्षाओं की जानकारी मिली जो संसार में अपनी समता नहीं रखती थीं और इस प्रकार प्राचीन आर्य नैतिक अवधारणा के समक्ष बेन्थम की यह कथित नैतिक धारणा अपना आकर्षण खो बैठी। वे जॉन स्टुअर्ट मिल को तो सन्त पुरुष ही मानते

थे। उन्होंने उसके सभी ग्रन्थों तथा उसकी आत्मकथा का अध्ययन किया। अपने प्रत्येक मित्र से उन्होंने इसे पढ़ने का भी अनुरोध किया, यह बताने के लिए कि इस पुस्तक में कितने ही ऐसे मूल्यवान रत्न हैं जो विचारशील पाठकों के भविष्य का निर्माण कर सकते हैं।

इस पुस्तक को पढ़ने की संस्तुति उन्होंने अपने प्रत्येक मित्र से की। यहाँ यह लिख देना ही पर्याप्त है कि इस पुस्तक में वर्णित विषय की उपमा एक बहुमूल्य रत्न से दी जा सकती है, जो विचारशील पाठक के भविष्य को समुज्ज्वल करने में समर्थ है। यह एक तथ्य है कि अपने कालेज-जीवन के द्वितीय वर्ष के अध्ययन को पूरा करने के पहले ही पं० गुरुदत्त ने प्रायः सभी यूरोपीय दार्शनिकों की रचनाओं को पढ़ डाला था, जिनकी कृतियाँ उन्हें अंग्रेजी भाषा में मिल सकीं। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि इस समय वे केवल दर्शनशास्त्र की इस शाखा विशेष के अध्ययन तक ही सीमित थे। इसके विपरीत उनका अध्ययन बहुमुखी था। वे विज्ञान की पुस्तकों पर ऐसे टूट पड़ते, जैसे भूखा शेर अपने शिकार पर टूटता है। मैंने उन्हें प्रायः अरबी व्याकरण के सूत्रों को कण्ठस्थ करते, फारसी पुस्तकों पढ़ते तथा संस्कृत ग्रन्थों को पढ़ते देखा है। पंजाब सरकार के कार्यालय में उच्च पद पर आसीन उनके एक सम्मानित मित्र के अनुसार वे गणित की ही भाँति विज्ञान में तथा भाषा की ही भाँति दर्शन में भी विचक्षण थे। यद्यपि वे कालेज की कक्षाओं में अनियमित रूप से ही उपस्थित होते थे, तथापि किसी भी परीक्षा में असफल नहीं रहे। इससे पठित विषयों पर उनका अधिकार सूचित होता है। उनके अध्यापक भी इस बात को जानते थे, अतः दैनन्दिन कक्षाओं में उनकी अनुपस्थिति के लिए वे कभी उनसे प्रताड़ित नहीं हुए।

विज्ञान के विषयों में उनकी विशेष रुचि थी। अतः वे प्रोफेसर ओमन^{३१} के प्रिय शिष्य माने जाते थे। प्रोफेसर ओमन भी उन्हें वात्सल्य स्नेह देते थे। परीक्षा पास करने के लिए पाठ्य पुस्तकों को केवल एक बार पढ़ना ही उनके लिए पर्याप्त था। मैं पूरे दो वर्षों तक अर्थात् जनवरी १८८१ से दिसम्बर १८८२ तक उनका सहपाठी रहा और मैं अपने पाठकों को विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि मैंने उन्हें घर पर कभी कालेज का पाठ या पाठ्य पुस्तक पढ़ते नहीं देखा। फिर भी अप्रैल या मई १८८३ में सम्पन्न पंजाब विश्वविद्यालय की

इण्टरमीजियेट आर्ट्स की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए परीक्षार्थियों में वे जब सर्वप्रथम आए तो उन सभी लोगों को आश्चर्य हुआ, जो केवल आकृति से ही उन्हें परखना चाहते हैं।

१८८१ के अन्त या १८८२ वर्ष के आरम्भ में उन्होंने एक निःशुल्क वादविवाद क्लब आरम्भ किया और स्वयं उसके सचिव बने। ऊपर जिन महानुभावों के नाम उल्लिखित हुए हैं उनके अतिरिक्त कुछ अन्य यथा, पं० रामेश्वरनाथ कौल, लाला सदानन्द, पं० हरिकृष्ण तथा उनका जुड़वां भाई, ये सभी उस क्लब के सदस्य थे। इस क्लब के अधिकारी विभिन्न तथा परस्परविरोधी सिद्धान्तों वाले मजहबों के अनुयायियों को बनाया गया था। इस क्लब में आर्य, ब्राह्म, हिन्दू, यहाँ तक कि नास्तिकों को भी सम्मिलित किया गया तथा धार्मिक, नैतिक, सामाजिक तथा राजनैतिक, कोई ऐसा विषय नहीं था, जिस पर यहाँ चर्चा न होती हो। यह क्लब दो या तीन वर्ष तक ही चल पाया, किन्तु इससे कोई इन्कार नहीं करेगा कि अपने कार्यक्षेत्र में इसके द्वारा अपने सदस्यों तथा उनके माध्यम से जनता का बहुत उपकार हुआ। इस क्लब से सबसे बड़ा लाभ तो यही हुआ कि सदस्यों के बीच सहिष्णुता की भावना बढ़ी। इस क्लब के प्रायः सभी सदस्य जो अभी किशोर या युवा अवस्था में ही थे, अपनी बुद्धि को विकसित करने के लिए प्रेरित हुए, ताकि प्रबुद्ध मानस द्वारा वे अपनी पितृभूमि का हित साधन कर सकें। वे सत्य के सच्चे अन्वेषक थे, अतः क्लब की बैठकों में खुले दिमाग से आते थे। जीवन के अपरान्ह में जबकि व्यक्ति की निर्णायक शक्ति अधिक गम्भीर हो जाती है, दुनियादारी के अनुभवों से उसके मनोवेग शान्त हो जाते हैं—साथ ही जब उसे अपने जीवन के अवशिष्ट दिनों का स्पष्ट आभास हो जाता है, उस समय इस क्लब के सदस्य अपनी बैठकों में विवेचित गम्भीर दार्शनिक मसलों पर सोचने का अवसर निकालते थे। उस समय उन्हें न तो क्लब में बिताये अपने समय के लिए ही कोई खेद होता था और न अपनी युवावस्था में सत्यानुसंधान के लिए किए गये प्रयत्नों के लिए कोई अनुताप।

१८८२ में गुरुदत्त विद्यार्थी ईश्वर तथा आत्मा के अस्तित्व पर वाद-विवाद करते समय स्वयं को विरोधी पक्ष का प्रवक्ता बना लेते थे तो १८८५ में वे अपने आपको ईश्वर की सिद्धि के पक्ष में रखने

लगे तथा स्वमत की पुष्टि में आर्य दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते। ये वही व्यक्ति थे जिन्होंने अपने सहपाठियों तथा अपने सम्पर्क में आने वाले सभी लोगों के ईश्वर के अस्तित्व विषयक आस्था भाव को हिला दिया था। उन्होंने ही इन लोगों को नास्तिकता की ओर उन्मुख किया, किन्तु अन्ततः वे ही थे जिन्होंने प्रचलित मत-विश्वासों के विषले प्रभाव से इन लोगों के मस्तिष्क को मुक्त किया और धीरे-धीरे, क्रमशः पहले तो अपूर्ण रूप से ही, किन्तु बाद में पूर्ण रूप से इन लोगों की धर्मविषयक धारणाओं को सफलतापूर्वक तथा विश्वास के साथ सुनिर्धारित किया तथा सर्व रचयिता और सर्वोपरि शासक परमात्मा के प्रति दृढ़ आस्था वाला बनाया। इस प्रकार ईश्वर की सत्ता तथा आत्मा के अस्तित्व के बारे में वे आर्य विचारधारा को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने में सफल हुए। पाठक, तनिक ध्यान दें ब्राह्म, ईसाई तथा इस्लाम जैसे मतों में एक ऐसे ईश्वर में विश्वास किया जाता है कि जो अभाव से सृष्टि की रचना करने में समर्थ है, किन्तु पं० गुरुदत्त ने अपने मित्रों और भक्तों को आर्यसमाज के उस सिद्धान्त में विश्वास करना सिखाया जो ईश्वर, जीव तथा प्रकृति की अनादिता में आस्था रखता है। इस प्रकार उन्होंने हमें आर्यसमाज या अधिक सही अर्थ में उस वैदिक धर्म में विश्वास दिलाया, जो सत्य तथा सुसंगत धर्म होने के कारण विज्ञान एवं तर्क की कसौटी पर भी खरा उतरता है।

इस पुस्तक का लेखक इस प्रकार आर्यसमाज की दीक्षा लेकर लाभान्वित होने वालों में से एक था जो पं० गुरुदत्त द्वारा की गई धर्म की व्याख्या से प्रभावित होकर ही इस विचारधारा के निकट आये। वस्तुतः उनकी शैली ही इस प्रकार की थी जिससे मौजूदा झूठे विश्वास दुर्बल होकर नष्ट हो जावें तथा उनके स्थान पर वास्तविक सिद्धान्तों का बीजारोपण किया जा सके। आर्यसमाज लाहौर के वार्षिकोत्सव पर दो दिसम्बर १८८२ के दिन लेखक ने आर्यसमाज की सदस्यता का फार्म भरा तथा सत्य धर्म को प्रचारित करने के कार्य में जुड़ गया। जनसाधारण के इस विनम्र सेवक के जीवन में वह दिन सदा स्मरणीय रहेगा तथा उन लोगों के प्रति मेरा कृतज्ञताभाव भी चिरस्थायी रहेगा, जिन्होंने मुझे इस पथ पर चलने की प्रेरणा दी। मैं तो आर्यसमाज मन्दिर में जिज्ञासारूपी आग की

एक चिनगारी लेकर ही प्रविष्ट हुआ था, आर्यसमाज का सभासद बनने का तो मेरा कोई इरादा ही नहीं था। किन्तु यह तो सचाई के उस जादूगर स्वर्गीय लाला साईंदास^{३२} के हाथ का कमाल था कि उसने इस चिनगारी को ही ज्वाला के रूप में बदल दिया। उस दिन से मेरे हृदय में आर्यसमाज के प्रति यह आस्था दिन-प्रतिदिन प्रवृद्धमान हो रही है तथा वैदिक धर्म के प्रति जिस विश्वास भाव को पं० गुरुदत्त विद्यार्थी तथा लाला साईंदास ने जागृत किया था, उसे मैं अपने मत के रूप में स्वीकार करता हूँ। यद्यपि लाला साईंदास का यह जादू-भरा स्पर्श भी अपरिमित प्रभाव डालने वाला था, किन्तु यदि पं० गुरुदत्त ने इसके लिए उचित आधार तैयार नहीं किया होता, तो उसका कारगर होना कठिन ही था।

पाठक इस व्यक्तिगत सन्दर्भ के लिए मुझे क्षमा करें। इसका औचित्य सिद्ध करने के लिए तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि इससे मेरा लक्ष्य स्पष्ट हो सका है। यह उस दिवंगत महापुरुष के प्रति अर्पित की गई उस व्यक्ति की श्रद्धांजलि है, जो यह गर्वपूर्वक कह सकता है कि उसे आर्यसमाज के माध्यम से भारत के नवजागरण हेतु काम करने की दीक्षा देने वाला वही व्यक्ति था।

उस दिन (२ दिसम्बर १८८२) को स्मरण करने का एक और भी कारण है। इस प्रसंग से पं० गुरुदत्त विद्यार्थी की आत्मा की विनम्रता का पता चलता है। यह घटना इस प्रकार घटी। जब लाला मंदनसिंह^{३३} ने 'आर्यसमाज का उद्भव और उसका भविष्य' विषय पर अपना भाषण समाप्त किया तो इन पंक्तियों के लेखक तथा पं० गुरुदत्त को भी कुछ बोलने के लिए कहा गया। हमने इसके लिए अपनी सहमति दे दी। तब मुझे मंच की ओर जाने के लिए कहा गया। मुझे उस स्मरणीय रात्रि को दी गई अपनी उस वक्तृता का पूरा ध्यान है कि किस प्रकार मेरे व्याख्यान पर श्रोताओं की बार-बार उत्साहपूर्ण हर्ष ध्वनि हुई थी। मेरे प्रत्येक वाक्य पर बार-बार जयनाद हुआ था और इस अप्रत्याशित स्वागत ने मेरे मस्तक को गर्वोन्नत कर दिया था। अब तो मैंने इस प्रकार के भावुक क्षणों में निहित त्रुटियों को लक्षित कर ही लिया है। क्योंकि प्रायः अनुभवहीन और अर्ध पठित कनिष्ठ विद्यार्थी ही अपने सार्वजनिक जीवन के आरम्भ में जनता द्वारा प्राप्त इस प्रकार के अभूतपूर्व स्वागत से

अभिभूत होकर अपने स्वभाव की सरलता को छोड़ बैठते हैं, अपने अध्ययन की भी उपेक्षा करने लगते हैं, अपने भविष्य को बर्बाद कर डालते हैं तथा उस आन्दोलन की भी अवज्ञा करने लगते हैं जिसके साथ उनका सम्बन्ध होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं नौजवान विद्यार्थियों को सार्वजनिक आन्दोलन में भाग लेने से विरत कर रहा हूँ। मैं अपने देश की भावी आशाखूपी अपने इन युवकों के मस्तिष्क में यह बात जमा देना चाहता हूँ कि उन्हें अपनी आयु की सीमा में रहकर ही कार्य करना चाहिए, उसकी उपेक्षा करके नहीं। एक ऐसे युवक द्वारा, जो अभी तक पूर्णतया परिपक्व भी नहीं हुआ है, यहाँ तक कि उसकी मसँ भी नहीं भीगी हैं, और जो अभी कालेज में प्रविष्ट ही हुआ है, एक ऐसी सभा में व्याख्यान देना, जिसमें उससे अधिक वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध तथा अनुभव वृद्ध लोग उपस्थित हों, एक ऐसी असंगत बात है, जिसे निश्चय ही निरुत्साहित किया जाना चाहिए। और किसी कारण से नहीं, बल्कि इसलिए कि इस प्रकार की दुस्साहस-पूर्ण प्रवृत्ति शालीनता की घातक होती है, तथा इससे वय एवं अनुभव की अवमानना होती है, जिसे हिन्दू जाति का अत्यन्त मूल्यवान् तथा सर्वोपरि गुण माना गया है। यह तो ठीक है कि युवक लोग अपने क्लबों की बैठकों तथा इसी प्रयोजन से स्थापित अन्य संस्था समाजों में अपनी वक्तृत्व कला का अभ्यास करें। अथवा यदि उन्हें किसी सार्वजनिक सभा में बोलने की जरूरत भी पड़े तो उन्हें अत्यन्त विनम्रता एवं शालीनता के साथ अपने विचार रखने चाहिए, न कि हठधर्मी के साथ। उन्हें अपनी गलतियों को मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हुए सुधारने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। उनके द्वारा उच्चरित वाक्य ऐसे हों जो 'इदं इत्थम्' से हटकर हों, जिनमें दोनों ओर कहने की गुंजाइश बनी रहे, तथा वे ऐसी बात तो भूलकर भी न कहें, जिसके लिए उन्हें बाद में पछताना पड़े। युवकों में स्वभाव से ही सार्वजनिक सभाओं में जाने का उत्साह होता है तथा यथोचित योग्यता प्राप्त करने के पूर्व वे देश का कार्य करने के लिए स्वयं को उपयुक्त मान बैठते हैं। इस प्रकार वे स्वयं की तथा अपने काम की भी क्षति करते हैं। देश को ऐसे अर्द्ध शिक्षित, अर्द्ध पठित, नियन्त्रण-हीन युवकों की आवश्यकता नहीं है जो अपने माता-पिता तथा नेताओं द्वारा निर्मित आशाओं के भवन को धूलिसात कर दें। किसी

कवि ने कहा भी है—

अल्प ज्ञान भयावह होता है ।

ज्ञान निर्झर में या तो गहरा गोता लगाओ, अथवा
उसके निकट भी मत जाओ ।^{२४}

भारत को आज भी गुरुदत्त विद्यार्थी जैसे सुशिक्षित, बहु अधीत तथा वैज्ञानिक मनीषा के धनी छात्रों की आवश्यकता है । अल्प-पठित व्यक्ति न तो देश को ऊँचा उठा सकते हैं और न किसी समाज का निर्माण ही कर सकते हैं । वे आर्य रक्त में नवीन ऊष्मा भरने में भी असमर्थ होते हैं । इस बात को सिद्ध करने के लिए युगदृष्टिविहीन आधुनिक पण्डितों का उदाहरण दिया जा सकता है । हाँ, यह तो कहना ही होगा कि गुरुदत्त विद्यार्थी ने मेरे द्वारा दिखाई गई मूर्खता का अनुसरण करने से इन्कार कर दिया था क्योंकि वह स्वयं को सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करने के लिए उपयुक्त नहीं मानता था । इसी तथ्य से एक वास्तविक मानव और दिखावे के इन्सान का असली फर्क मालूम होता है ।

आर्यसमाज के इस वार्षिकोत्सव के बाद आर्य प्रेस के संचालक लाला सालिगराम ने हमारे युवकों तथा उनकी जल्दबाजी की आदत का लाभ लेने का सोचा । इन महानुभाव ने थोड़े समय के लिए आर्यसमाज के प्रति अतीव उत्साह दिखाया था । उनका सुझाव था कि मैं अंग्रेजी तथा उर्दू में आर्यसमाज के प्रचार के लिए दो पत्रों का सम्पादन करूँ । दोनों पत्रों का सारा व्यय वे स्वयं उठाएँगे । इस प्रस्ताव को उचित विचार के लिए आर्यसमाज के दो भावी शहीदों (लाला हंसराज तथा पं० गुरुदत्त) एवं लाला शिवनाथ को भेजा गया । कुछ विचार-विमर्श के पश्चात् उक्त सुझाव को स्वीकार कर लिया गया तथा पत्रों के सम्पादन का काम चार व्यक्तियों के सुपुर्द हुआ । मेरे सुझाव पर इन पत्रों के नाम रक्खे गये 'रिजेनेरेटर आफ आर्यावर्त'^{२५} (अंग्रेजी) तथा 'देशोपकारक'^{२६} (उर्दू) । प्रारम्भ से ही यह मान लिया गया था कि मैं इन पत्रों के सम्पादन का काम तो उसी स्थान पर रहकर करूँगा जहाँ रहकर मुझे वकालत करनी है । साथ ही यह भी तय हुआ कि अंग्रेजी पत्र की वास्तविक निगरानी लाला हंसराज करेंगे । यह तो मान ही लिया गया था कि यदि इन पत्रों के निकालने से कोई मुनाफा होता है तो वह आर्यसमाज को जाएगा

और हम हर हालत में अवैतनिक रूप से ही कार्य करेंगे। हमारे मित्रों के एक छोटे-से दायरे को छोड़कर किसी को पता तक नहीं चला कि इन पत्रों के वास्तविक सम्पादक कौन हैं ? किन्तु बाद में लाला हंसराज और पं० गुरुदत्त के नाम सम्पादक के रूप में विज्ञापित किये गये। न्याय का यह तकाजा है कि मैं लाला हंसराज को ही इन पत्रों को चलाने का मुख्य रूप से श्रेय दूँ। वस्तुतः इन पत्रों के स्तम्भों से ही जनता को उनकी स्वाधीन प्रवृत्ति का ज्ञान हो सका।

१८८३ के आरम्भ में पं० गुरुदत्त, विद्यार्थी ने आर्यसमाज के तत्वावधान में संचालित होने वाले एक विज्ञान विद्यालय की योजना रक्खी। इस विषय में उन्हें श्री ओमन का दिशा-निर्देश प्राप्त हो रहा था। एतद् विषयक अपील प्रकाशित हुई तथा चन्दे की सूची बनाई गई। लगभग.....रुपये^{१०} एकत्र हुए तथा इस सम्बन्ध में पं० गुरुदत्त ने अनेक व्याख्यान भी दिए।

उनके कतिपय विश्वसनीय मित्रों की धारणा थी कि वे इन दिनों ईश्वर की सत्ता के प्रति अविश्वासी थे। इस धारणा की पुष्टि १२ जनवरी १८८३ को उनकी डायरी में भरी हुई इस प्रविष्टि से होती है—“लाला.....ने लिखा है कि अब हमें यह घोषित कर देना चाहिए कि हम नास्तिक हैं।” उन दिनों के उनके धार्मिक विश्वास के बारे में मैं स्वयं अपनी धारणा व्यक्त करते हुए यह कहना चाहता हूँ कि वे कभी भी नास्तिक नहीं रहे। यह अवश्य है कि उनके जीवन में कुछ घड़ियाँ, या यों कहिए कुछ दिन अवश्य आये थे जब वे ईश्वर के अस्तित्व को लेकर कुछ संशयास्पद रहे।^{१८} कुछ ऐसे भी क्षण रहे होंगे, जब उनकी मनःस्थिति नास्तिकता की ओर झुकी होगी, तथापि मेरे विचार से वे अनीश्वरवादी बनने की दयनीय अवधारणा से पृथक् रहना ही अच्छा मानते थे। इस निस्सीम विश्व की ईश्वर-रहित कल्पना उन्हें असह्य थी।

रिजेनेरेटर आफ आर्यावर्त से उनका सम्बन्ध टूट गया क्योंकि पत्र के संचालक ने पत्र से होने वाले लाभांश को आर्यसमाज को देना अस्वीकार कर दिया। पत्र के दोनों सम्पादकों के स्वार्थरहित आचरण का सबूत इस बात से मिलता है कि उन्होंने इस पत्र की उन प्रतियों को लेने से भी इन्कार कर दिया जो उन्हें निःशुल्क मिलती थीं, यद्यपि वे स्वयं ही पत्र का सम्पादन भी करते थे। वे इन प्रतियों के लिए

मूल्य देने का आग्रह करने लगे। अन्त में लाला सालिगराम उन्हें पत्र सम्पादन के लिए मासिक वेतन देने के लिए राजी हो गये किन्तु पं० गुरुदत्त ने इसे लेने से यह कहकर साफ इन्कार कर दिया कि उन्होंने यह कार्य आर्थिक लाभ के लिए नहीं, अपितु आर्यसमाज के हित की दृष्टि से स्वीकार किया था।

१८८३ के आरम्भ में पं० गुरुदत्त ने इण्टरमीडियेट आर्ट्स की परीक्षा पंजाब विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम रहकर उत्तीर्ण की। यह सफलता एक चमत्कार ही थी क्योंकि वे अपनी कालेज की पढ़ाई में कभी नियमित नहीं रहे। प्रायः सभी सामान्य परीक्षाओं में उन्हें सफल होने के लिए आवश्यक न्यूनतम अंक ही मिलते थे तथा कक्षा के वे विद्यार्थी उच्च स्थान प्राप्त कर लेते, जो रटने की विद्या में कुशल थे। किन्तु जब परीक्षा की घड़ी आई तो उनकी तीक्ष्ण स्मरण-शक्ति तथा पारदर्शी बुद्धि ने उनका साथ दिया। रटाई से उन्हें नफरत थी और वे बौद्धिक परिश्रम को पसन्द करते थे, चाहे यह श्रम अध्ययन के किसी क्षेत्र गणित, दर्शन, विज्ञान, या साहित्य में ही क्यों न हो। अपने कालेज का पाठ याद करने में लापरवाही तथा अनियमितता दिखाने के कारण उनके अध्यापक उनसे खिन्न रहते थे, किन्तु उनके प्रति पं० गुरुदत्त का विश्वास अडिग रहा।

दयानन्द एंग्लो वैदिक कालेज से पं० गुरुदत्त का नाता उसी दिन जुड़ा, जिस दिन इस आन्दोलन का जन्म हुआ। अक्टूबर १८८३ में जब स्वामी दयानन्द की भयानक बीमारी का समाचार जंगल में लगी आग की भाँति सारे देश में फैल गया, उस समय आर्यसमाज लाहौर की कार्यकारिणी ने स्वामीजी की चिकित्सा के दौरान उनकी सेवा करने के लिए पं० गुरुदत्त तथा समाज के तत्कालीन उपप्रधान लाला जीवनदास को नियुक्त किया। इस समय पं० गुरुदत्त गवर्नमेंट कालेज के तृतीय वर्ष में अध्ययन करते थे और उनकी आयु मुश्किल से २० वर्ष की थी। इतने महत्वपूर्ण तथा नाजुक कार्य के लिए उनकी नियुक्ति ही यह बताती है कि आर्यसमाज लाहौर के विचारशील प्रधान का उनमें कितना विश्वास था। इससे ही यह अन्दाजा लगाया जा सकता है कि समाज के सतर्क एवं विवेकशील सदस्यों के विचारों और निर्णयों पर प्रभाव डालने में वे कितने सक्षम थे। आर्यसमाज की दुनिया में यह सामान्य धारणा प्रचलित है कि

लाहौर के आर्य संगठित रूप से किसी को सम्मानित करने या आदर देने में बहुत शीघ्रता नहीं दिखाते (मेरे विचार से उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए) किन्तु पं० गुरुदत्त के मामले में वे अधिक उदार रहे। वे आरम्भ से ही उनकी योग्यता के प्रशंसक तथा उनकी प्रतिभा को अधिक उदारता से अपने हृदय में स्थान देते रहे। स्वामी दयानन्द के जीवन की अन्तिम घड़ियों में पं० गुरुदत्त ने उनकी जैसी पुत्रोचित सेवा की; उससे वे उन सभी के प्रशंसा एवं सम्मान के पात्र बने, जिन्होंने उन्हें अपने गुरु की परिचर्या करते हुए देखा अथवा बाद में इसका वृत्तान्त जाना।

हाँ, यह सत्य है कि स्वामी दयानन्द जैसे महान् पुरुष की मृत्यु के दृश्य में पं० गुरुदत्त के हृदय को अन्तर्तम तक प्रभावित किया था। उसने देखा कि यह महापुरुष परमात्मा के प्रति अपनी दृढ़ आस्था प्रकट करता हुआ गायत्री मन्त्र का उच्चारण करते-करते शरीर का त्याग कर रहा है। यहीं पर उसने भक्ति की महत्ता तथा गम्भीरता को अनुभव किया। यहीं पर उसने अनुभव किया कि सर्वव्यापक परमात्मा तथा उसके द्वारा रचित ब्रह्माण्ड का एक विनम्र सेवक किस प्रकार पूर्ण मानसिक शान्ति के साथ अपने पाँचभौतिक देह का त्याग कर उस अपर लोक को जाता है, जहाँ उन मुक्तात्माओं का निवास है, जो आपत्ति एवं विपत्ति के झंझावातों से अविचलित रहती हैं, जो पीड़ा और दुखों से मुक्त हैं तथा जिन्होंने सत्य और कर्तव्य-पालन के लिए संघर्ष कर अपना तथा अपने नियामक परमात्मा का गौरव बढ़ाया है। उस दिन के पश्चात् पं० गुरुदत्त का ईश्वर और वेद के प्रति विश्वास कभी विचलित नहीं हुआ, उस घड़ी के बाद सन्देह के भूत ने उन्हें कभी नहीं सताया। उस क्षण के बाद किसी ने उन्हें सन्देहवाद के समर्थन में एक शब्द भी प्रयुक्त करते नहीं देखा। उनके जीवन की यह एक महान् घटना थी, जिसने उनके जीवन में उल्लेखनीय परिवर्तन किया तथा उनके पश्चात्पूर्वी लेखन, कथन तथा कार्यों को प्रभावित किया। स्वामी दयानन्द के निधन का समाचार एक ऐसा संकेत था, जो यह सूचित करता था कि पंजाब में आर्य-समाज के द्वारा सुधार का जो कार्य आरम्भ किया गया है, उसमें तीव्र गति लाना तथा अविरत परिश्रम कितना आवश्यक है। जब यह कहा गया कि स्वामी दयानन्द की पवित्र स्मृति को चिरस्थायी बनाने

के लिए एक ऐसे शिक्षा-संस्थान की स्थापना की जायेगी, जिसमें वेदों तथा कालजयी संस्कृत साहित्य की समुचित शिक्षा का प्रबन्ध रहेगा, तो इस प्रस्ताव ने मानो समस्त आर्यसमाजियों के हृदयस्थ भावों को ही प्रतिध्वनित किया। स्वामी दयानन्द की स्मृति में ऐसी शिक्षा संस्था की स्थापना का विचार यद्यपि प्रस्ताव रूप में तथा उसे क्रियान्वित करने के लिए धन एकत्र करने के रूप में अभिव्यक्त हो ही रहा था, किन्तु वह अपना निश्चित रूप तो तभी ग्रहण कर सका, जब पं० गुरुदत्त तथा लाला जीवनदास अजमेर से लौट कर आये। ८ नवम्बर १८८३^{२६} को लाहौर के नागरिकों की एक सभा आर्य-समाज लाहौर के परिसर में सम्पन्न हुई और इसमें ही सर्वप्रथम उक्त प्रस्ताव को जनता के सामने रखा गया और उसको स्वीकृति मिली। इस सभा के वक्ताओं में पं० गुरुदत्त भी थे, जिन्होंने बताया कि किस प्रकार स्वामीजी ने एक महीने से अधिक काल की अपनी रुग्णता की पीड़ा को वीरतापूर्वक सहकर अपने जीवन का परित्याग किस निर्भीकता के साथ किया। इस सभा का विवरण रिजेनेरेटर आफ आर्यावर्त में प्रकाशित हुआ था। हम उसका एक उद्धरण यहाँ दे रहे हैं—

“स्वामी दयानन्द के निधन के उपरान्त ६ नवम्बर १८८३ को जो सार्वजनिक शोक सभा हुई, उसका दृश्य पूर्णतया भिन्न ही था।

“इस अवसर पर दुख की भावना ने कृतज्ञता का रूप ग्रहण कर लिया था तथा प्रत्येक व्यक्ति के हृदय तथा धमनी में उत्साह का उद्दाम वेग प्रवाहित हो रहा था। सबका एक ही लक्ष्य था कि दिवंगत स्वामी के उदात्त जीवन के अनुरूप ही इस संसार में भी उनका अमर स्मारक बनाना चाहिए। अन्ततः सर्वसम्मति से निश्चय हुआ कि उनकी स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए लाहौर में एंग्लो वैदिक कालेज की स्थापना होनी चाहिए। इस प्रस्ताव को उत्साह के साथ स्वीकार किया गया। इसके पश्चात् का दृश्य तो सर्वथा दर्शनीय ही था। यद्यपि इस सभा में मध्यम वर्ग के लोग ही उपस्थित थे, किन्तु तत्काल ७ और ८ हजार के बीच में रूपया एकत्र हो गया। स्त्रियों और बच्चों ने तो इसमें अपना हिस्सा दिया ही था, गरीब लोगों ने भी अपनी तुच्छ राशि इसमें प्रदान की।”

डी० ए० बी० कालेज की सहायता के लिए सर्वप्रथम २५ रुपये

पं० गुरुदत्त ने प्रदान किये। यह उनके एक महीने की छात्रवृत्ति की राशि थी। मेरी जानकारी में इतने विशाल जन समुदाय को सम्बोधित करने का उनका यह पहला ही अवसर था, और इसके बाद मैंने उन्हें अपने कर्तव्य-पालन से पीछे हटता कभी नहीं देखा। कभी हम उन्हें लाहौर आर्यसमाज के उत्साही मन्त्री के साथ बैठकर डी० ए० वी० कालेज की सहायता के लिए अपील का मसौदा तैयार करते देखते थे, तो कभी इस कालेज की सहायता के लिए इधर-उधर भेजे जाने वाले प्रतिनिधि-मण्डलों के साथ जाते हुए देखते।

आर्यसमाज के उत्सवों में जाना उनकी रचिकर प्रवृत्ति थी। इनमें सम्मिलित होकर वे अपने अवकाश के दिनों का स्वयं तथा अपने बन्धु आर्यसमाजियों के लिए सर्वाधिक लाभप्रद उपयोग कर लेते थे। आर्यसमाज लाहौर के सातवें उत्सव में उपस्थित जनसमूह के समक्ष उन्होंने अंग्रेजी में भाषण दिया। जनवरी १८८८ के आर्य मैगजीन ने इस उत्सव के विवरण को प्रकाशित करते हुए लिखा था, “पं० गुरुदत्त का व्याख्यान यद्यपि अत्यधिक आलंकारिक शैली में प्रस्तुत किया गया था, उसमें प्रयुक्त शब्दावली भी अत्यन्त कठिन थी, तथापि उसकी उपयोगिता निर्विवाद थी तथा श्रोताओं ने इसे उत्साहपूर्वक सुना।” वस्तुतः गुरुदत्त के जीवन के ये वर्ष आन्दोलन और रचनात्मक कार्य के थे। उनका व्यापक अध्ययन कल्पनाशीलता तथा असाधारण तर्क-प्रवणता से मिल गया। परिणामस्वरूप उनके व्यक्तित्व में जो निखार आया, उसकी चर्चा हम वर्ष के अन्त में उनकी डायरी में अंकित निम्न वाक्य में देखते हैं—“धर्म का अनुसरण क्या है, इससे हमारे देश का किस सीमा तक सुधार हो सकता है? यदि भारत ऐसे देश-भक्तों का राष्ट्र बन जाय तो उससे संसार पर क्या प्रभाव पड़ेगा?” निश्चय ही, स्वदेश भक्ति, निःस्वार्थ देश-सेवा ही उन दिनों उनका प्रमुख ध्येय वाक्य बन गया था।

अगले वर्ष के आरम्भ में उन्होंने सफल विद्यार्थियों की सूची में सर्वप्रथम रहकर पंजाब विश्वविद्यालय की बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। १८८४ के पूरे साल ही उनका स्वास्थ्य बहुत खराब रहा। इसका पता हमें उनकी डायरियों में पाये जाने वाले उल्लेखों से लगता है। इसके उपरान्त भी उन्होंने ऐसे दो अत्यन्त विवादास्पद तथा जटिल मसलों को सुलझाने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा

की, जिनके कारण एक समय आर्यसमाज के दो दलों में विभाजित हो जाने का खतरा पैदा हो गया था, इनमें प्रथम था डी० ए० वी० कालेज सोसाइटी तथा प्रबन्धक सभा के संवैधानिक गठन का प्रश्न तथा दूसरा था आर्य प्रतिनिधि सभा (पंजाब) के विधान तथा संगठन से जुड़ी समस्याएँ। लाहौर आर्यसमाज की अन्तरंग सभा में दीर्घ-काल तक लम्बे-लम्बे वाद-विवाद चलते रहे तथा कई महीनों तक लाहौर समाज की शक्ति उन समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने में व्यय होती रही, जिनके ऊपर आर्यसमाज तथा डी० ए० वी० आन्दोलन का भविष्य ही निर्भर था क्योंकि मेरे विचार से किसी भी संस्था या समाज की सफलता उसके संविधान पर ही निर्भर होती है, जिसे उसके प्रवर्तक बनाते हैं। प्रतिनिधियों के रूप में जिन्हें मत देने का अधिकार प्राप्त होता है उनकी योग्यता ही उस संस्था के स्थायित्व का सूचकांक बन जाती है, क्योंकि इन संस्थाओं के संचालन के लिए ही ऐसी प्रतिनिधि सभाओं का निर्माण किया जाता है।

डी० ए० वी० कालेज सोसाइटी तथा उसकी प्रबन्धक समिति के निर्माण में जो विवाद का मुद्दा उभरकर आया था, वह इनके सदस्यों की योग्यता विषयक मतभिन्नता के कारण ही था। इस सोसाइटी का सदस्य किसे बनाया जाय ? क्या इस सभा का सदस्य बनने के लिए सभी आर्यसमाजियों को अधिकार दिया जा सकता है, यदि हाँ, तो ऐसा किन शर्तों, सीमाओं तथा किस अनुपात में दिया जाना चाहिए। प्रबन्धक सभा के सदस्यों के निर्वाचक मण्डल का गठन कैसे होगा ? इसमें चुनाव की कौन-सी प्रक्रिया अपनाई जाये तथा जो गैर-आर्यसमाजी हैं, क्या उन्हें भी इसमें स्थान दिया जाय, यदि हाँ तो कैसे ? ये वे प्रश्न थे जिन्हें लेकर डी० ए० वी० आन्दोलन के नेताओं में तीव्र मतभेद थे। डी० ए० वी० आन्दोलन के कुछ नेता जो आर्यसमाज लाहौर की अन्तरंग सभा के सदस्य भी थे, इन मसलों को लेकर परस्पर विभाजित हो गये। आर्यसमाज के योग्य प्रधान की सम्मति थी कि संस्था का पूरा नियन्त्रण और शासन आर्यसमाज के अधीन ही रहना चाहिए जबकि लाल लालचन्द एम० ए० के प्रबल तथा प्रबुद्ध नेतृत्व में कुछ अन्य लोगों का कहना था कि संस्था की व्यवस्था में सामान्य जनता का भी हिस्सा होना चाहिए। कमेटी की बैठकें प्रायः देर रात तक चलती थीं तथा कई रातों तक इन

सवालों पर जमकर बहस हुई। ये वाद-विवाद प्रायः बहुत सुन्दर, नितान्त उत्साहवर्धक किन्तु यदा-कदा आशंकापूर्ण भी हो जाते। इनमें भाग लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति का दावा था कि वह सत्य की रक्षा के लिए ही लड़ रहा है। इनमें से हर एक इस संस्था के प्रति अपने प्रेम को लेकर प्रतिस्पर्धा प्रकट करता। निश्चय ही डी० ए० वी० कालेज का भविष्य उन उत्तेजनापूर्ण वाद-विवादों के परिणाम पर ही निर्भर था, जिन्हें आर्यसमाज लाहौर के इतिवृत्त से कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। इन लोगों का एकमात्र ध्येय अपनी संस्था की सफलता ही रह गया और उनके सभी वैयक्तिक पूर्वाग्रह, मित्रता और रिश्तेदारी के सम्बन्ध इसी लक्ष्य में विलीन हो गये। हमारे कथानायक ने भी इस वाद-विवाद में अपनी भूमिका निभाई थी। अन्ततः लाहौर आर्यसमाज के बुद्धिमान प्रधान की दूरदर्शिता, पं० गुरुदत्त की विलक्षण वाक्पटुता तथा विरोधी दल की उदारता एवं समझदारी ने अपना चमत्कार दिखाया और ये सब लोग एक समझौते के लिए सहमत हुए। इस समझौते से दोनों पक्षों को ही गौरव मिला और इसी के आधार पर उस संविधान का निर्माण हुआ जो डी० ए० वी० कालेज सोसाइटी तथा उसकी प्रबन्धक समिति के संचालन का आधार है। इस प्रकार डी० ए० वी० कालेज के संविधान को ठोस आधार मिला जिस पर किसी भी सोसाइटी को गर्व हो सकता है। जिन आर्यसमाजों ने कालेज फण्ड के लिए १००० रुपये की आर्थिक सहायता प्रदान की थी, उन्हें प्रबन्ध समिति में अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार भी मिला। इन्हीं निर्वाचित सदस्यों को यह विकल्प दिया गया कि यदि वे चाहें तो गैर आर्यसमाजियों को भी सदस्यता प्रदान कर सकते हैं, यदि वे यह अनुभव करते हों कि ये लोग विधि, अभियान्त्रिकी, शिक्षा, व्यवसाय एवं अध्ययन के क्षेत्रों अथवा अभिजात्य समाज के प्रतिनिधि बनकर लिये जा सकते हैं। शर्त यही थी कि इन गैर आर्यसमाजियों की समग्र संख्या सम्पूर्ण समिति के सदस्यों की एक तिहाई से अधिक नहीं होगी।

एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न भी था। पंजाब की आर्यसमाजों की प्रतिनिधि सभा के गठन को लेकर भी महत्वपूर्ण समस्या उत्पन्न हो गई थी। इस सवाल पर भी लोगों में और अधिक मतभेद थे। पंजाब के आर्यसमाजी तो इस प्रश्न पर अपने भिन्न मत रखते ही थे, अन्य

प्रान्तों में भी प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओं के निर्माण को लेकर मत-विभिन्नता आ गई थी।

मतभेद धीरे-धीरे बढ़ते ही गये किन्तु अन्त में सिद्धान्त पक्ष की ही विजय हुई और पंजाब की विभिन्न आर्यसमाजों के प्रतिनिधियों की अमृतसर में सम्पन्न हुई बैठक में आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध विधि-विशेषज्ञ तथा प्रेमचन्द रायचन्द छात्रवृत्ति प्राप्त राय मूलराज एम० ए० द्वारा निर्मित संविधान को स्वीकार कर लिया गया। इन नियमों में जो थोड़े से संशोधन और परिवर्तन सुझाए भी गये, वे भी आगे चलकर असामयिक तथा अव्यावहारिक सिद्ध हुए। यह बात नहीं कि जो संविधान बनाया गया, वह पूर्णतया त्रुटिरहित ही था, तथापि यह तो कहना ही होगा कि आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के संचालन हेतु बनाये गये ये नियम पर्याप्त सन्तोषजनक तथा ठोस आधार लिये हुए थे।

गुरुदत्त विद्यार्थी ने इन नियमों के निर्धारण के समय हुए वाद-विवाद में सक्रिय भाग लिया था। उनकी डायरी में एक स्थान पर हम यह लिखा पाते हैं—“समाजों के प्रतिनिधित्व को लेकर चर्चा हुई। प्रश्न था कि क्या बुद्धिमत्ता को वरीयता मिलनी चाहिए या धन अथवा संख्या को……की चौकड़ी ने मेरी राय की सर्वथा उपेक्षा की। मुझे आर्यसमाज लाहौर ने अपना प्रतिनिधि बनाकर अमृतसर भेजा। वहीं पर सभा का संविधान बनना है। हमें वास्तविक कार्य के लिए तुरन्त आगे आना चाहिए। लाहौर में लाला साईदास के अतिरिक्त और कोई ऐसा नहीं है जो मेरे विचारों का समर्थन करे।”

इसके बाद वे पश्चिमोत्तर प्रदेश (वर्तमान उत्तरप्रदेश) की आर्य-प्रतिनिधि सभा की बैठक में भाग लेने के लिए मेरठ गये। इस सभा के प्रधान मुंशी लक्ष्मणस्वरूप के सौजन्य से पं० गुरुदत्त तथा पंजाब से आये अन्य आर्यों को इस बैठक में उठाये गये मुद्दों पर बोलने का अवसर मिला। यह बैठक पश्चिमोत्तर प्रदेश की प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा के नियमों का निर्धारण करने के लिए ही बुलाई गई थी तथा इसके नियम पंजाब की प्रतिनिधि सभा के नियमों से बहुत कुछ भिन्न थे। इसी वर्ष लाहौर की आर्यसमाज की अन्तरंग सभा ने ‘आर्य-पत्रिका’³ नाम से अपना मुखपत्र निकालने का निश्चय किया। जून १८८५ में पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हो गया और यह

सर्वविदित है कि पं० गुरुदत्त इसमें प्रायः लिखा करते थे ।

डी० ए० वी० कालेज आन्दोलन को एक ऐसे विद्वान्, मेधावी तथा वाग्मी व्याख्यानदाता की आवश्यकता थी जो पश्चिमी विज्ञानों में व्युत्पन्न होने के साथ-साथ संस्कृत साहित्य में भी असाधारण वैदुष्य रखता हो । कालेज को ऐसे प्रखर वक्ता की आवश्यकता थी जिसकी विद्वत्ता और चरित्र लोगों में विश्वास का भाव जागृत करे तथा जिसकी वक्तृत्व शक्ति श्रोताओं के हृदयों को स्पर्श कर सके ताकि वे लोग ऐसे त्याग के लिए तत्पर रहें, जिसके अभाव में सफलता प्राप्त होना प्रायः दुष्कर ही होती है । आर्यसमाज अथवा यों कहिए हिन्दू जाति को एक ऐसे नेता की आवश्यकता थी जो उसकी कल्पनाशक्ति को उत्तेजित कर उसके हृदय को जीत ले । पतंजलि, गौतम तथा इसी कोटि के अन्य ज्वलन्त प्रकाश-पुंजों के देशवासी एक ऐसे व्यक्ति को चाहते थे जो उनमें उत्साह का भाव पैदा करे, तथा उन्हें उनके ही पूर्वजों द्वारा अर्जित गौरव के शिखर तक ले जा सके और इस प्रकार उन्हें बताये कि वर्तमान में वे अन्धकार, अज्ञान तथा अन्धविश्वास के कितने गहन गर्त में पड़े हुए हैं । उन्हें ऐसा वक्ता, व्याख्याता और नेता एक ऐसे व्यक्ति में मिला जो अभी स्थानीय गवर्नमेण्ट कालेज का विद्यार्थी ही था किन्तु जिसने प्रतिभा के क्षेत्र में अपने सहपाठियों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठता प्राप्त की थी, तथा जो अपने कालेज तथा अपने समाज का गौरवास्पद व्यक्ति बन चुका था । जीवन के इसी आरम्भ काल में उसके व्याख्यानों और प्रवचनों को भावप्रवण गम्भीरता वाला माना जाने लगा था तथा उसके श्रोताओं की संख्या भी दिन-प्रतिदिन बढ़ रही थी ।

प्रत्येक आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में उन्हें वक्ता के रूप में आमन्त्रित किया जाता । डी० ए० वी० कालेज आन्दोलन का प्रत्येक भाग्यविधाता उनमें रुचि लेने लगा तथा इस आन्दोलन की सफलता का श्रेय पं० गुरुदत्त के व्याख्यानों को ही देता । इस संस्था की सहायता के लिए की जाने वाली अपीलों के प्रति अनुकूल प्रतिक्रिया व्यक्त करना सभी लोग अपना कर्तव्य मानते, चाहे वे धनी हों या गरीब, ऊँचे या नीचे ।

१८८५ में पं० गुरुदत्त डी० ए० वी० कालेज के लिए सहायता हेतु कई स्थानों पर गये और प्रत्येक स्थान पर उन्हें असाधारण सफलता

मिली। वे आर्यसमाज अमृतसर के वार्षिकोत्सव में गये। वहाँ उन्होंने जो व्याख्यान दिया उसे ३१ अक्टूबर १८८५ की आर्यपत्रिका ने निम्न प्रकार से उल्लिखित किया—“इसके पश्चात् लाहौर आर्य समाज के सुयोग्य सभासद लाला गुरुदत्त विद्यार्थी बोलने के लिए खड़े हुए। उन्होंने एक बहुत ही प्रभावशाली तथा विद्वत्तापूर्ण वक्तृता में ऋग्वेद के एक मन्त्र को उद्धृत कर सिद्ध किया कि वेदों में सम्पूर्ण विद्याएँ मूल रूप में पाई जाती हैं। एक अन्य मन्त्र में उन्होंने बताया कि इसमें वायु के सभी तत्त्वों का उल्लेख है। उन्होंने यह भी बताया कि कई दृष्टियों से वेद का अध्ययन अत्यावश्यक है। उन्होंने कहा कि जो लोग वेदों को बेकार की पुस्तक मानते हैं, उन्हें भी इसके प्रचार में रुचि लेनी चाहिए, क्योंकि ऐसा करके ही वे वेदों से लोगों के विश्वास को हटा सकते हैं और कह सकते हैं कि वेदों में बाल्य सुलभ बातें ही हैं। अन्त में उन्होंने कहा कि देश के प्रत्येक शुभचिन्तक को दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज के लिए दिल खोलकर सहायता करनी चाहिए।” इसी समाचार में यह लेख भी मिलता है कि इस अवसर पर अनुमानतः १० हजार रुपये के चन्दे के वचन प्राप्त हुए।

इसी वर्ष के अन्तिम चरण में हम अपने कथानायक को आर्य-समाज रावलपिण्डी के वार्षिक उत्सव पर उत्तरी पंजाब के बहादुर लोगों के समक्ष अपनी उच्च आत्मा के उद्गारों को प्रस्तुत करते हुए देखते हैं। यहाँ भी कालेज के लिए १६०० रुपये चन्दे के रूप में प्राप्त हुए।

यहाँ आते-आते पं० गुरुदत्त के कालेज जीवन का पर्यवसान हो गया। आगामी वर्ष में उन्होंने अपने प्रान्त के विश्वविद्यालय के विद्याविषयक सम्मानजनक सोपान पर एक कदम और रक्खा और उस वर्ष के एम० ए० (भौतिकी) में उत्तीर्ण विद्यार्थियों में वे सर्वप्रथम रहे।



पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी
महर्षि दयानन्द के अन्त समय का दृश्य देखकर नास्तिक से
आस्तिक बने अल्प आयु में ही बहुत कार्य कर गये ।



अध्याय ४

(भाग १)

पं० गुरुदत्त का प्रचार कार्य

अप्रैल में हम लाला गुरुदत्त विद्यार्थी को आर्यसमाज पेशावर के वार्षिकोत्सव में उपस्थित देखते हैं। यहाँ २६०० रुपये का चन्दा तत्काल प्राप्त हुआ। ३१ मई को लाहौर आर्यसमाज के परिसर में उन्होंने एक प्रभावशाली वक्तृता दी। इसमें उन्होंने डी० ए० वी० स्कूल के उद्देश्य एवं लक्ष्य को स्पष्ट किया। दूसरे ही दिन—१ जून, १८८६ को इस स्कूल की स्थापना हो गई। अन्य स्थानों पर भी उनके अनेक व्याख्यान हुए। बागवानपुरा और फीरोजपुर में दिये गये उनके व्याख्यान अत्यन्त सफल रहे, जहाँ डी० ए० वी० कालेज के लिए बहुत बड़ी धनराशि एकत्र हुई।

६ अक्टूबर १८८६ को आर्यसमाज अमृतसर के ६वें वार्षिकोत्सव पर उनका एक और प्रभावशाली भाषण हुआ। इसका विवरण आर्यपत्रिका में प्रकाशित हुआ। इससे हम निम्न उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

“इसके पश्चात् पं० गुरुदत्त विद्यार्थी एम० ए० का डी० ए० वी० कालेज आन्दोलन पर एक अत्यन्त प्रभावशाली तथा विदग्धतापूर्ण भाषण हुआ। उनके इस व्याख्यान ने उपस्थित लोगों के हृदय को हिला दिया तथा इसका परिणाम प्रभावशाली रहा। उन्होंने प्रमाण-पुरस्सर सिद्ध कर दिया कि आर्यसमाज के प्रवर्तक की स्मृति में स्थापित होने वाले इस महाविद्यालय की स्थापना हेतु, जिसमें संस्कृत के साथ पश्चिमी विज्ञान तथा प्रविधि की भी शिक्षा दी जायगी, सहायता देना प्रत्येक आर्यसमाजी का प्रसुख कर्तव्य है। जनता के समक्ष की गई उनकी यह अपील अत्यन्त प्रभावशाली रही और उनके व्याख्यान के समाप्त होने पर ६०८ रुपये चार आने चन्दे के रूप में एकत्र हो गये। चाँदी के बने ६ अनन्त, (एक आभूषण) दो सोने की अंगूठियाँ तथा एक चाँदी का एक अन्य आभूषण भी कालेज के लिए

दान रूप में मिले । २५० रुपये के वचन भी प्राप्त हुए ।

इस व्याख्यान के बाद उन्हें पण्डित के नाम से पुकारा जाने लगा तथा उन्हें नियमतः 'पण्डित' कहकर ही सम्बोधित किया जाता था । पं० गुरुदत्त की नित्य प्रवृद्धमान ख्याति और सम्मान उस समय पराकाष्ठा पर पहुँच गये जब आर्यसमाज लाहौर के १६वें वार्षिक उत्सव पर उन्होंने दो अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण, वाग्मिता युक्त एवं मोहक भाषण दिए । इनमें एक का विषय डी० ए० बी० कालेज था जो हिन्दी में दिया गया । दूसरा अंग्रेजी व्याख्यान आर्यसमाज विषयक था । तत्काल ही ६००० रुपये का नकद चन्दा और ४०० रुपये मूल्य के आभूषण दान रूप में मिले और १००० रुपये के चन्दे के वचन भी प्राप्त हुए ।

पुनः २७ दिसम्बर को जालन्धर में इसी विषय पर वहाँ के पठित एवं शिक्षित समाज के सम्मुख उनका व्याख्यान हुआ । उन्होंने अत्यन्त विश्वास के साथ लोगों के समक्ष यह सिद्ध कर दिया कि एक ऐसे वैदिक कालेज की आज देश को नितान्त आवश्यकता है जिसमें नैतिक, बौद्धिक और शारीरिक—सभी प्रकार का शिक्षण दिया जावे । जालन्धर की जनता की उदारता का तत्काल प्रमाण मिला और कालेज के लिए १६०० रुपये प्राप्त हुए ।

इसके बाद तो मूर्तिपूजा के प्रति अश्रद्धा रखने वाले आर्यसमाजियों के लिए वे सर्वथा पूजा के पात्र-आदर्श पुरुष बन गये । आर्य जनता ने उनकी विद्वत्ता के लिए उन्हें जो सम्मान दिया, उसे यदि हम इंग्लैण्ड के सर्वश्रेष्ठ गद्य लेखक^{३१} के शब्दों में कहना चाहें, तो वीर पूजा या Hero Worship ही कहेंगे । इस शब्द के प्रयोग को लेकर हमें कोई भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए । आर्यसमाज के मत-विश्वास से वीर पूजा की भावना का कोई विरोध नहीं है । यह एक साधारण हिन्दू द्वारा राम या कृष्ण को ईश्वर के अवतार के रूप में पूजने की भावना के प्रतिकूल है, क्योंकि वे तो इन महापुरुषों को भगवद्रूप मानकर पूजते हैं । जो जाति अपने वीरों का सम्मान नहीं करती, अपने बलिदानियों को श्रद्धांजलि अर्पित नहीं करती, वह तो मृत तुल्य है तथा उसका नष्ट हो जाना स्वयं उसके तथा मानवता के सामान्य हित में ही है । एम० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात् वे इसी वर्ष गवर्नमेण्ड कालेज लाहौर में विज्ञान के सहायक प्राध्यापक

के पद पर नियुक्त हो गये और इस दुर्वह कर्त्तव्य-भार को उन्होंने पूर्ण क्षमता के साथ निभाया ।

इसी वर्ष उन्होंने आयुर्वेदशास्त्र का विधिवत् अध्ययन किया और प्राचीन आर्य चिकित्सा प्रणाली का समुचित ज्ञान प्राप्त कर लिया । आगे चलकर वे आयुर्वेद के कट्टर समर्थक और प्रशंसक बने तथा एक प्रसंग में उन्होंने कहा कि यूरोपीय चिकित्साप्रणाली भारतवासियों के लिए उपयुक्त नहीं है ।

जून १८८७ में पेशावर आर्यसमाज ने उन्हें डी० ए० बी० कालेज सोसाइटी में अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा । इसी मास में वे स्कूल उपसमिति के सदस्य भी चुने गये । सारे साल उनका स्वास्थ्य खराब रहा । २८ जनवरी को उन्होंने लगातार दस्त होने की शिकायत की । उनकी डायरियों में सर्वत्र इस बीमारी का उल्लेख मिलता है । कौन जानता है कि इस बीमारी ने उनकी मृत्यु को कितना निकट ला दिया था ? अगले मास उन्हें यकृत (जिगर) दर्द की शिकायत हुई । अगस्त में उनके बायें हाथ की हड्डी टूट गई । कुछ अन्य बीमारियों से भी वे परेशान रहे किन्तु उनके आगे उन्होंने अपने हथियार नहीं डाले ।

इस वर्ष उनके व्यवहार में असाधारण और उल्लेखनीय परिवर्तन आया जिसे अनेक अव्यावहारिक आर्यसमाजियों के आचरण की तुलना में अत्यन्त गम्भीर ही कहना होगा । १९ जनवरी को भ्रमण करते समय उनके मस्तिष्क में एक विचार आया और उन्होंने सोचा कि जो कुछ वे कहते हैं, क्या उस पर आचरण भी करते हैं । इस पर उन्होंने लिखा—“विश्वास का एक ही परिणाम होता है और वह है कर्म” । जो आर्यसमाजी केवल बातें ही करते हैं और तदनुकूल आचरण नहीं करते वे मानो बताते हैं कि इन बातों में उनका विश्वास भी नहीं है । जैसाकि स्वामी दयानन्द भी लिखते हैं—“मुझे सफलता इसीलिए मिली क्योंकि मैंने जो कुछ कहा उस पर विश्वास भी किया । तुम लोग चूँकि न तो विश्वास ही करते हो इसलिए तदनुसार काम भी नहीं करते । केवल दुनियां को ही दिखाते हो कि हम जो कुछ कहते हैं उस पर विश्वास भी करते हैं ।” उन दिनों हालाँकि उनकी ख्याति सर्वत्र फैल रही थी और एक वक्ता तथा विद्वान् के रूप में वे सर्वत्र श्लाघा के पात्र बन रहे थे, किन्तु वे

स्वयं दिन-प्रतिदिन अपनी कमजोरियों के प्रति अधिक जागरूक होने लगे। जबकि लोग ईश्वर प्रेषित सुधारक के रूप में उनका अभिनन्दन कर रहे थे, वे स्वयं को सुधारने की एक योजना पर विचार कर रहे थे। हम उनकी एतद्विषयक चिन्ता को उनकी डायरी में अनेकत्र अंकित पाते हैं। यहाँ हम इनमें से एक ही उद्धरण दे रहे हैं—
 “२ जुलाई—क्या मेरा सुधार सम्भव है? यदि हाँ, तो मुझे कुछ परिस्थितियों में लोगों से अधिक मिलना-जुलना बन्द करना होगा।”
 इस वाक्य से ही पं० गुरुदत्त विद्यार्थी के मस्तिष्क की प्रकृत सरलता का ज्ञान होता है। वे यह जानते थे कि अपने जीवन को समयबद्ध करने से ही उनकी वृत्तियों में अपेक्षित सुधार हो सकता है। इसके लिए उन्हें स्वयं से मिलने आने वालों की भीड़ को रोकना होगा जिनमें से अधिकांश उनसे निकटता स्थापित करने आते हैं, कुछ अन्य कठिन धार्मिक प्रश्नों का समाधान चाहते हैं, कुछ लोग तो उनकी विद्वत्ता की परीक्षा लेने के लिए ही आते हैं तथा कुछ ऐसे भी हैं जो उनसे कुछ सीखने, पढ़ने तथा लाभ प्राप्त करने के लिए आते हैं और इनमें से वे किसी को भी इन्कार नहीं करते। इस प्रसंग का पुनः उल्लेख हम उनकी बीमारी के कारणों की चर्चा करते हुए करेंगे, जो उनकी मृत्यु का हेतु बनी।

इस वर्ष के बड़े दिन के अवकाश में वे लाला साईदास, लाला मदनसिंह बी० ए०, अमृतसर के पं० शिवदत्तराम तथा मेरे (लाला लाजपतराय) साथ दिल्ली गये। हम मौज-मजे के लिए वहाँ नहीं गये थे, हमारी यात्रा का उद्देश्य डी० ए० वी० कालेज के लिए धन एकत्र करना ही था। दिल्ली नगरपालिका के सदस्य लाला गिरधारीलाल वकील के निवास पर पण्डितजी ने दो व्याख्यान दिए तथा हमारे अल्प प्रयत्नों को पर्याप्त सफलता भी मिली। एक दिन हम कुतुबमीनार देखने गये और वहाँ पृथ्वीराज चौहान के किले के खण्डहरों को देखकर पण्डितजी ने उसकी निर्माण-कला का अत्यन्त सावधानी से निरीक्षण किया तथा निःश्वास भर लिया। उनकी निरीक्षण शक्ति का एक अन्य उदाहरण भी मैं देना चाहता हूँ। जब हम हुमायूँ के मकबरे की ओर जा रहे थे, तो उन्होंने सड़क पर से कुछ पत्थर के टुकड़े उठा लिए और हमें कहा कि ये एक विशेष प्रकार के पाषाण खण्ड हैं जो वैज्ञानिक प्रयोगों में उपयोगी सिद्ध होंगे।

(भाग २)

कुछ व्यक्तिगत प्रसंग

१८८६ के पूरे साल ही उनका स्वास्थ्य खराब रहा जिससे उनके शरीर तथा मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त उनके पास और कोई विकल्प था भी नहीं। उनकी डायरियों में उनके अनगिनत रोगों के उल्लेख पाये जाते हैं। इससे प्रायः उनके गले का कौआ गिर जाता। एक बार तो यह तब हुआ जब उन्होंने आर्य-समाज लाहौर के वार्षिकोत्सव पर अपना भाषण समाप्त ही किया था। किन्तु उनकी शक्तिशाली प्रकृति ने अपनी मातृभूमि का उपकार करने की इस प्रवृत्ति में इन शिकायतों को कभी बाधक नहीं बनने दिया। किन्तु अन्तिम परिणाम अत्यन्त भयावह था, जब कि उनका सारा शरीर ही क्षय रोग से ग्रस्त हो गया।

आगामी वर्ष में उनकी नैतिक और आध्यात्मिक प्रवृत्ति और अधिक विकसित हुई, जिससे उनके विशद मस्तिष्क तथा उच्चतर अध्यात्मभाव का परिज्ञान होता है। पं० गुरुदत्त अत्यन्त भावप्रवण तथा दृढ़-प्रकृति के व्यक्ति थे। आयु बढ़ने के साथ-साथ उन्होंने वैदिक धर्म का गम्भीर अनुशीलन किया, वास्तविक धर्म तत्त्व का उन्हें परिपूर्ण ज्ञान था तथा अन्तरात्मा के निगूढ़ तत्त्व की भी उन्हें जानकारी थी। इन्हीं कारणों से उनमें अद्भुत नैतिकता का विकास हो रहा था। नैतिकता विषयक उनकी अवधारणा इतनी उच्च तथा स्पष्ट थी कि उनके दृष्टिकोण से किया गया थोड़ा अनैतिक आचरण उन्हें क्रोधित कर देता था, बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि ऐसे व्यक्ति के प्रति उनके हृदय में करुणा जागृत हो जाती थी। नैतिकता के उनके आदर्श इतने उच्च थे कि उनमें अवसरवादिता, कूटनीतिज्ञता तथा दाँव-पेंचों के लिए कोई स्थान नहीं था। एक बार

मेरे किसी कृत्य के नैतिक अथवा अनैतिक होने का सवाल उठ खड़ा हुआ। इस पर पण्डितजी ने उसकी भरपूर निन्दा की। अपने आचरण का बचाव करते हुए मैंने अपने मित्रों के प्रमाण दिए। इनमें से एक तो किसी आर्यसमाज का अधिकारी भी रह चुका था। एक बार तो मैंने स्वयं पण्डितजी द्वारा ऐसे कार्य के समर्थन में व्यक्त किये उद्गार को भी पेश किया, किन्तु मेरे द्वारा प्रस्तुत युक्तियों के उत्तर में उन्होंने १३ अप्रैल १८८७ को फुलस्केप आकार के सुपरफाइन कागज पर पत्र लिखा जो आठ पृष्ठों में समाप्त हुआ था। मैं यहाँ अपने इस विवादास्पद काम का उल्लेख नहीं करूँगा, क्योंकि इसे बताने का न तो कोई लाभ ही है, बल्कि इससे कई प्रकार के व्यक्तिगत विवाद खड़े हो जाएँगे, जिनसे मैं बचना चाहता हूँ। पण्डितजी की नाराजगी का अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि उन्होंने पत्र-लेखन में प्रयुक्त होने वाले सामान्य प्रेमास्पद सम्बोधन का भी मेरे लिए प्रयोग नहीं किया, इसके स्थान पर नितान्त शुष्क तथा औपचारिक सम्बोधन—“लाला लाजपतराय” ही किया। मैं इस पत्र की पूरी प्रतिलिपि यहाँ नहीं दूँगा, किन्तु उसमें से कुछ इधर-उधर के उद्धरण ही प्रस्तुत करूँगा। इससे पं० गुरुदत्त की नैतिकता के उच्च भावों का पता लग सकता है।

अपने जिस मित्र का उल्लेख मैंने अपने स्पष्टीकरण में किया था, उसके सम्बन्ध में उन्होंने लिखा—“मैंने उनके साथ अनेक प्रसन्नतापूर्ण क्षण व्यतीत किये हैं अतः मैं उन्हें बहुत चाहता तथा प्यार करता हूँ। किन्तु उनकी निन्दा किये बिना ही मैं यह भी जानता हूँ कि धर्म और आचार के मामले में उनका ज्ञान अत्यन्त छिछला है। वे इन तत्त्वों की गहराई में नहीं गये हैं, किन्तु मैं यह भी जानता हूँ कि वे सरल प्रकृति तथा निर्दोष स्वभाव के हैं। इसलिए मैं उनके फंसले को नैतिक या धार्मिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं देता। किन्तु मुझे यह जानकर पीड़ा हुई है कि उन्होंने आपके कृत्य को समर्थन दिया है। मैंने कभी नहीं सोचा था कि एक ऐसा व्यक्ति, जो वैदिक सिद्धान्तों में विश्वास रखता है, आत्मा के पुनर्जन्म को मानता है, जो स्वयं पुरानी परम्परा का उत्साही एवं साधुमना आर्य है, जो विश्व के नैतिक प्रशासक के रूप में ईश्वर की सत्ता को ईमानदारी से स्वीकार करता है, जो केवल दिखावे के लिए ईश्वर-

विश्वासी होने का ढोंग नहीं करता, अपितु जो ईश्वर के अस्तित्व को यथार्थ रूप में स्वीकार करता है, वह भी ऐसी बात कर सकता है। हाँ, मैं यह सोच भी नहीं सकता कि वे आपके इस कृत्य की अनुमति देंगे। इससे मुझे आज के इन्सान की संकीर्ण दुनियावी तथा अनात्मवादी प्रकृति का ही परिज्ञान हुआ है।”

इसके पश्चात् वे इस बात की ओर संकेत करते हैं कि किन परिस्थितियों में उन्होंने पहले मेरे ऐसे ही कार्य के प्रति अपनी सहमति प्रकट की थी। वे लिखते हैं—“मुझे भली-भाँति याद है कि मेरा उस समय का उत्तर अनिच्छा से ही दिया गया था। किन्तु वह इतना अनिच्छापूर्ण भी नहीं था कि उससे मेरी प्रतिकूलता व्यक्त होती। किन्तु जो उत्तर मैंने दिया था, उसका मुझे स्मरण है। मैंने इतना ही कहा था कि तुम्हारे इस कार्य से तुम्हारे प्रति मेरे आदर और प्रेम में कोई कमी नहीं आयेंगी। हाँ, केवल उसी काम के परिणामस्वरूप। मुझे अपनी बात को स्पष्ट करने दो। मैं जानता हूँ कि एक अनैतिक कार्य दूसरे इसी प्रकार के कृत्य के लिए आधार बनता है। जो इस समय एक अनैतिक काम करता है वह दूसरे अवसर पर उसी प्रकार का अन्य अनैतिक आचरण आसानी से कर डालता है। यह जानते हुए मैंने तो तुमसे यह आशा लगाई थी कि भविष्य में तुम अपनी दृढ़ इच्छा शक्ति से पुनः इस प्रकार का कोई काम नहीं करोगे, क्योंकि एक ऐसा काम तो तुम कर ही चुके हो, किन्तु इसी कारण मैं तुम्हारे प्रति अपने प्रेम में भी कोई न्यूनता नहीं आने दूँगा। बल्कि यही मानूँगा कि दुनियावी आपात्स्थिति ने ही तुम्हें ऐसा करने के लिए विवश किया है। मेरी यह भी धारणा थी कि उस अनैतिक आचरण तथा दुष्कर्म को करके भी बदले में तुम्हें कुछ अच्छा ही मिलेगा अर्थात् भविष्य में तुम एक शानदार और उत्तम सार्वजनिक जीवन को प्राप्त कर सकोगे। किन्तु मेरे ये सारे अनुमान व्यर्थ हो गये। इसके बाद तुमने धर्मयुक्त जीवन अख्यार नहीं किया। कई बार और सफलतापूर्वक अनैतिकता के दानव ने तुम पर बिजय पाई। हाँ, यह सत्य है कि इसी दैत्य ने कभी धन की आशा पैदा कर, तो कभी आदर-सम्मान और गौरव प्राप्त करने की कामना जगाकर तुम्हें प्रलोभित किया और तुमने उसके समक्ष समर्पित होकर अपनी कमजोरी ही जाहिर की। जब एक बार के अनैतिक आचरण ने तुम्हें

सांसारिक दृष्टि से लाभ का दर्जा प्राप्त करा दिया तो तुमने स्वयं को नैतिक, धार्मिक तथा मानसिक दृष्टि से सुधारने की चेष्टा ही नहीं की। उसी तुच्छता ने आज भी तुम्हें घेर लिया है। तुमने प्रगति तो की है, किन्तु रुढ़ियों और सस्ती लोकप्रियता के दैत्य की पूजा करके ही। तुमने सरल, और स्वाभाविक, किन्तु ईश्वरीय एवं मानवता के गुणों से युक्त तौर-तरीकों की अपेक्षा पश्चिमोत्तर प्रदेश के उस दुर्भाग्यपूर्ण खोखले शिष्टाचार को महत्त्व दिया, जिसमें शुष्क नैतिकता, पोशाक के दिखावे तथा आडम्बरपूर्ण रहन-सहन के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। परमात्मा ने ही तुम्हें कुछ कर दिखाने का मौका दिया था किन्तु तुम उस ईश्वरीय आदेश के अनुकूल कुछ भी नहीं कर सके। परमात्मा ने तुम्हारे पास एक ऐसे होनहार युवक को भेजा था, जिसे तुम सुधार सकते थे, किन्तु तुमने उसे छिपे तौर पर दुनियावी धोखाधड़ी करने, नीचतापूर्ण कृत्यों तथा बुराइयों के धरातल तक पहुँच जाने से नहीं रोका। (जिस सूचना के आधार पर पं० गुरुदत्त ने यह वाक्य लिखा, वह पूर्णतया गलत था—लाजपतराय) मैंने जो कुछ तुम्हें लिखा है उसके पीछे मेरा अनुभव तो कदापि नहीं है, क्योंकि एक दुष्टात्मा का अनुभव भी क्या महत्त्व रखता है, किन्तु इस लिखने में मेरी सहज अनुभूति ही कारण रही है। (इसके बाद कुछ अन्य बातें लिखकर उन्होंने पुनः अपनी शिकायतें आरम्भ कर दीं) किन्तु मेरा काम तुम्हें फटकारना, बुरा-भला कहना या तुम्हारी निन्दा करना नहीं है। तुम्हारे स्वाभिमान को ठेस पहुँचाना भी मेरा प्रयोजन नहीं है, किन्तु मैं उच्चतर प्रेरणा से, लोकोत्तर आदेश को पालने के लिए तुम्हें कह रहा हूँ। मैं चाहता हूँ कि तुम इस दिव्य विधान को प्रत्यक्ष देखो तथा यदि सदा इसके अनुकूल आचरण न भी कर सको तो कम-से-कम इसे मान्यता तो प्रदान करो। यदि तुम स्वाधीन और धर्मात्मा बनना चाहते हो तो तुम्हें निष्कपट तथा उदार होना पड़ेगा। यद्यपि मैं भी बहुत निष्कलुष नहीं हूँ किन्तु मुझमें शठता की प्रवृत्ति भी नहीं है, अतः तुम्हें इस प्रकार का उपदेश देते हुए मुझे शर्म महसूस होती है। किन्तु किसी अलौकिक शक्ति के वशवर्ती होकर ही मैं ऐसा कर रहा हूँ। हे सत्य के देवदूत, तुम मुझे अपने पंखों की ओट प्रदान करो। 'मैं किंचित मात्र भी परवाह नहीं करता...' एक विख्यात फ्रेंच

लेखक का नाम देकर उन्होंने लिखा कि 'यदि तुम चाहो तो उस लेखक की पुस्तकें मुझे भेजना, यदि न भेजो, तो यह भी तुम्हारी इच्छा पर ही निर्भर है। मैं इसे कोई अधिक महत्त्व नहीं देता। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे लिए तो जीवन का वास्तविक मूल्य ज्ञान का भीतरी स्रोत ही है।' इसकी तुलना में संसार की हजार नियामतें भी व्यर्थ हैं। मैं अपनी बात का सच्चा हूँ। तुम्हें विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि मेरे आगे सांसारिक स्वार्थ का लेश भी नहीं है, ऐसी स्वार्थ भावना न तो मुझमें है और न मेरे पास भी फटक सकी है। सर्वशक्तिमान् मेरी रक्षा करें।

ऐ संसार से प्यार करने वाले नौजवान, यदि तुमने इस (फ्रेंच) लेखक को ही अपना आदर्श बनाया है तो उसे अपने मन में स्थापित कर ले, उससे कभी जुदा मत होना। किन्तु याद रख, मनुष्य के भीतर एक उच्चतर आत्मा का निवास होता है, बहुत ऊँची और अति दिव्य एवं लोकोत्तर। मनुष्य की इस महिमामण्डित आनन्ददायी प्रकृति को शायद तुमने अनुभव भी नहीं किया होगा। हाँ, यह सत्य है कि मनुष्य में भगवदीय दिव्यता होती है। अपने प्रयत्न और योग्यता के अनुपात में उसे प्राप्त करने की तैयारी करो तो वह तुम्हें मिलेगी। मैं तुम्हें विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि यदि मनुष्य अपनी इस सहजात शक्ति और दिव्य योग्यता के प्रति जागरूक हो तो संसार की कोई पापपूर्ण प्रवृत्ति और कोई पीड़ा उसे सृष्टि के रचयिता द्वारा बताये गये मार्ग पर चलने से नहीं रोक सकती।

मेरे उपर्युक्त वाक्य को सौ बार पढ़ना और तुम इसके अभिप्राय को उस समय समझ पाओगे जब इसका अर्थ तुम्हारे मन की भीतरी तह तक पहुँचकर तुम्हें प्रभावित करेगा। यही सान्त्वना मैं तुम्हें इस समय दे सकता हूँ। परमात्मा तुम्हारी रक्षा करे तथा उच्चतर एवं महत्तर लक्ष्यों की ओर प्रेरित करे।

ईश्वर की कृपा से,

तुम्हारा सच्चा शुभचिन्तक तथा परामर्शदाता
यद्यपि वह स्वयं भी कलुषमुक्त नहीं है,
गुरुदत्त विद्यार्थी।

इस पत्र को मैंने कई बार पढ़ा है, चाहे पूरे सौ बार न पढ़ा हो और अब जब कि इसके लेखक की अमर आत्मा परलोक सिधार गई

है, मैं अपने हृदय के अन्तर्तम से परमपिता से यही प्रार्थना करता हूँ कि वे उसे शान्ति प्रदान करे, जिसने मुझे भी इस पत्र के द्वारा शान्ति का पाठ पढ़ाया था। ए परलोकवासी पं० गुरुदत्त, मैं जानता हूँ कि तुम वहाँ रहकर भी अपनी पवित्र आत्मा में दैवी प्रवृत्तियों का निरन्तर विकास कर रहे हो, कृपया तुम आज भी मुझे उचित निर्देशन प्रदान करो।

मैं जानता हूँ कि इस पत्र के प्रकाशन से मेरे चरित्र पर एक भयानक प्रतिबिम्ब अवश्य पड़ेगा, किन्तु मैं इसकी परवाह नहीं करता। मेरे जिस काम के कारण मुझे निन्दित होना पड़ा वह वस्तुतः पाप ही था, तथा उसकी जितनी गहराई की जाए वह उचित ही होगी, क्योंकि ऐसा करके मैंने विश्वास कर लिया था कि नैतिकता के नियम भी समय और युग के अनुसार बदलते रहते हैं। हाँ, यह एक बड़ा पाप ही था, क्योंकि मैंने अपने कृत्य को प्रचलित सामयिक नैतिकता की कसौटी पर खरा सिद्ध करने का प्रयत्न किया था। अतः इस प्रयोजन से भी मुझे उक्त पत्र को प्रकाशित कर ही देना चाहिए, क्योंकि इससे मेरे चरित्र की आलोचना होगी और उस पर टीका-टिप्पणियाँ भी की जाएगी, किन्तु इससे मुझे अपने किये का दण्ड ही मिलेगा। तथापि मैं अपने पाठकों को यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ, क्योंकि जैसा कि उक्त पत्र के विवरण से ज्ञात होता है, मेरी जो निन्दा हुई है उसका मुख्य कारण था स्वयं द्वारा किया गया प्रतिज्ञा-भंग का दोष तथा सार्वजनिक कर्त्तव्य की अवहेलना। मेरे द्वारा किये गये कुछ अन्य भी दोषपूर्ण कृत्य थे जिनकी उपेक्षा की जा सकती थी। मेरे द्वारा की गई सार्वजनिक कर्त्तव्य भावना की अवहेलना, यदि मैं इसे छिपाता तो वह मेरा गुरुतर पाप होता क्योंकि यह पत्र तो पं० गुरुदत्त की नैतिक तथा आचारविषयक धारणाओं की अकृत्रिम अभिव्यक्ति ही था। इसे सरसरी तौर पर पढ़कर ही उन लोगों के कथन का प्रतिवाद किया जा सकता है जो पण्डितजी की धार्मिक एवं आध्यात्मिक शिक्षाओं के बारे में शंकाएँ करते थे। वे स्वयं सर्वथा निष्पाप नहीं थे और न उन्होंने कभी ऐसा दावा ही किया। किन्तु उनकी नैतिकता तथा धार्मिक वृत्ति में सचमुच एक बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया था जिसके कारण, जैसा कि वे स्वयं कहते थे, वे अपनी सहजानुभूति के वशवर्ती होकर ही आचरण करने

लगते थे । आप मुझे कहने की आज्ञा दें कि इस पत्र को पढ़कर मुझे अपने कृत्य के अनैतिक होने का विश्वास हो गया, मैंने उनसे क्षमा माँगी और उन्होंने उदारतापूर्वक मुझे क्षमा कर भी दिया ।

इस प्रसंग को पूरा करने के लिए मैं उस पोस्टकार्ड की प्रति यहाँ दे रहा हूँ जो उस पत्र के मिलने के एक-दो दिन पहले ही मुझे मिला था तथा जिसमें से बहुत बड़ा अंश ऊपर उद्धृत किया जा चुका है । यह कार्ड इस प्रकार था—लाला लाजपतराय—मैंने तुम्हारा कार्ड पढ़ा । मैं तुम्हारे उस दिमाग के प्रति तो दया ही दिखाना चाहता हूँ जो स्वयं तो धार्मिकता तथा साधुवृत्ति से हट ही चुका है, किन्तु जो दूसरों की नैतिकता तथा आत्मिक एकरसता को भी भंग करता है । मैं इसे बेहतर समझता हूँ यदि तुम मेरे प्रति क्रूर, आक्रामक तथा अकृतज्ञ बन जाओ वनिस्वत इसके कि तुम मुझे पाप और अव्यवस्था की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित करो । मेरा मन तुम्हारे प्रति प्रेम से भरा है, किन्तु इसे व्यक्त करने के लिए मेरे पास मात्र यह पोस्टकार्ड ही है । यदि इसे पढ़कर ही कोई झटकी हुई आत्मा अपने उचित स्थान पर आ जाती है तो इसे ईश्वर का वरदान ही मानना चाहिए । ईश्वर तुम पर आशीर्वाद बरसाये ।

तुम्हें मानसिक पीड़ा पहुँचाने वाला,
गुरुदत्त विद्यार्थी

मुझे ठीक याद है कि इसके बाद भी मुझे उनके कई पत्र मिले थे जिनमें उन्होंने मुझे मेरे उस कृत्य के लिए क्षमा कर दिया था, जिसने उन्हें चोट पहुँचाई थी । १८८८ में उनके द्वारा भेजे गये पत्रों के उन उद्धरणों से मेरे कथन की पुष्टि हो जाएगी जो मैं आगे प्रसंग आने पर प्रस्तुत करूँगा ।

अध्याय ५

पिता का निधन

वर्ष १८८७ में उनकी एक और पद-वृद्धि हुई। प्रो० ओमन के अवकाश पर चले जाने के कारण पं० गुरुदत्त को विज्ञान का कार्य-वाहक प्रोफेसर बना दिया गया, जब कि इससे पूर्व वे विज्ञान के कार्य-वाहक सहायक प्रोफेसर पद पर कार्यरत थे। इस उच्च पद के कार्य-भार को उन्होंने इतनी सहजता तथा सफलता के साथ निभाया, जिसके कारण, जिसने भी उन्हें देखा उसने उनकी प्रशंसा की। १८८७-८८ की परीक्षा में जिन विद्यार्थियों ने विज्ञान का विषय लिया था, वे सभी उस विषय में उत्तीर्ण हुए। केवल एक विद्यार्थी ही असफल रहा, जिसके बारे में उन्होंने कहा था कि यह पास होने के योग्य ही नहीं है।

जहाँ तक सामाजिक स्थिति का सम्बन्ध है हम उनके जीवन के आध्यात्मिक तथा राष्ट्रभक्ति विषयक उनके विचारों की असाधारण शक्ति को देखते हैं। अन्यत्र उद्धृत उनकी डायरी को देखने से उनकी आध्यात्मिक शक्तियों के विकास पर नजर जाती है जबकि उनके राष्ट्र-भक्ति के कृत्यों को जानने के लिए डी० ए० वी० कालेज विषयक उनके निम्न प्रयत्न साक्षी हैं—

३१ जनवरी (१८८७) को उन्होंने गुजरांवाला में एक भाषण दिया, जिसके बारे में एक मार्च १८८७ की आर्यपत्रिका ने निम्न समाचार प्रकाशित किये—“गवर्नमेण्ट कालेज लाहौर के विज्ञान के सहायक प्रोफेसर पं० गुरुदत्त विद्यार्थी ने डी० ए० वी० कालेज आन्दोलन पर एक आकर्षक व्याख्यान दिया। उन्होंने अपने भाषण का आरम्भ यजुर्वेद के निम्न मन्त्र को बोलकर किया—

असुर्या नाम ते लोकाः अंधेन तमसावृता ।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महन्ता जनाः ॥

—अ० ४० मन्त्र ३

उन्होंने प्रभावपूर्ण शैली में बताया कि जो अपनी आत्मा के प्रतिकूल आचरण करते हैं, शास्त्रों के आदेश को नहीं मानते, ब्रह्मचर्य के नियमों की अवहेलना करते हैं, वे आत्महन्ता कहलाते हैं। उन्होंने बताया कि ब्रह्मचर्य का पालन न करना तथा बाल्यावस्था में विवाह हमारी मौजूदा बुराइयों के मूल कारण हैं। अज्ञान, दुर्बलता तथा दुष्टता इसी से उत्पन्न होती हैं। उन्होंने अपनी युक्तियों को वैज्ञानिक हेतुओं से प्रमाणित किया, तथा ब्रह्मचर्य के लाभों का उल्लेख करते हुए उससे जीवनपर्यन्त होने वाली शक्तियों का विवरण दिया। इस प्रसंग में उन्होंने हमारे सम्मानास्पद महर्षि दयानन्द सरस्वती की दिव्य शक्तियों की चर्चा की। अनेक शिक्षाप्रद उदाहरण देकर उन्होंने लोगों के दिल में यह बात दृढ़ता से जमा दी कि शास्त्रों की उपेक्षा कर हम अपनी आत्माओं की हत्या ही कर रहे हैं। अपनी अपील को उन्होंने यह कहते हुए समाप्त किया कि डी० ए० बी० कालेज की स्थापना से हमारे देश को क्या-क्या फायदे होंगे। उनके इस कथन का सभी उपस्थित लोगों पर प्रभाव पड़ा कि इस कालेज के द्वारा छात्रों को जो शिक्षा दी जाएगी वह इस संसार में रहकर अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने में नितान्त उपयोगी सिद्ध होगी। इस अपील का उपयुक्त प्रभाव पड़ा और तत्काल ही कालेज के लिए १००० रुपये का दान तथा २००० रुपयों के वचन प्राप्त हो गये।”

मैं इन लम्बे उद्धरणों को यह बताने के लिए ही प्रस्तुत कर रहा हूँ कि किस प्रकार पण्डित जी अपने रुचि के विषय को लेकर व्याख्यान देते थे। परन्तु प्रत्येक बार उनके कथन का मुद्दा कुछ भिन्न प्रकार का होता था। एक व्याख्यान में वे जो युक्तियाँ देते तथा भाव प्रकट करते, दूसरे व्याख्यान में दी गई युक्तियाँ और प्रस्तुत भाव पहले से नितान्त भिन्न होते थे। यह उनकी वक्तृत्व शैली की विशिष्टता बताती है, जो उनकी सर्वथा निजी थी।

पुनः २७ मार्च को हम उन्हें इसी विषय पर जेहलम में भाषण देते हुए पाते हैं। यहाँ उन्होंने इस विषय का विवेचन बिल्कुल नये दृष्टिकोण से किया। इसमें उन्होंने वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने तथा

वैदिक अध्ययन की आवश्यकता को प्रतिपादित किया। इस अवसर पर २००० रुपये एकत्र हुए जिनमें १००० तो नकद प्राप्त हुए थे। इस व्याख्यान का विवरण देते हुए आर्य-पत्रिका ने पं० गुरुदत्त को डी० ए० बी० आन्दोलन का सर्व-प्रसिद्ध वक्ता कहा है।

इस वर्ष के पूर्वाह्न के समाप्त होते-होते पं० गुरुदत्त उस प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य चुन लिए गये, जिसे उत्तर पश्चिमी प्रान्त तथा अवध^३ में डी० ए० बी० कालेज के लिए चन्दा एकत्र करने के लिए भेजा जाना था। यों तो देश के विभिन्न भागों में ऐसे अनेक प्रतिनिधि-मण्डलों को जाना था, किन्तु यथार्थ में उत्तर पश्चिमी प्रान्त तथा अवध में जाने वाले प्रतिनिधि-मण्डल का ही गठन हो सका। यहाँ तक कि यह प्रतिनिधि-मण्डल भी उतना मजबूत नहीं बन पाया, जितना कि उसे बनाया जाना था। तथापि हर कठिनाई को उठाकर भी पं० गुरुदत्त विद्यार्थी इस मण्डल के सदस्य बने।

वस्तुतः १८८६ की ग्रीष्म ऋतु में ही इस प्रकार के प्रतिनिधि-मण्डल भेजने का विचार बन चुका था तथा उसी दिन से आर्यसमाजों के वित्तीय तथा सामाजिक दृष्टिकोणों को दृष्टिगत रखते हुए इस विचार को और अधिक दृढ़ता से रखा जा रहा था। १८८६ में पण्डित जी का जाना सम्भव नहीं हो सका। उनके पिताजी अस्वस्थ थे और उनके निकट पं० गुरुदत्त की उपस्थिति आवश्यक थी। मेरे द्वारा पूछे गये कुछ प्रश्नों के उत्तर में १० जुलाई १८८६ को लिखे अपने पत्र में उन्होंने इस प्रतिनिधि-मण्डल में न जा सकने की अपनी मजबूरी को इस प्रकार प्रकट किया है—

“मुजफ्फरगढ़ में मेरे पिता अत्यन्त बीमार तथा दुर्बल हैं। वे चाहते हैं कि मैं उनके पास रहूँ। मैं इस समय लाहौर में कार्यरत हूँ। उनका यहाँ आना खर्च में आवश्यक वृद्धि करेगा। यदि वे यहाँ आते हैं तो मेरा लाहौर से हिलना भी मुश्किल हो जाएगा। आर्यसमाज या अन्य किसी सामाजिक उद्देश्य के लिए की जाने वाली मेरी यात्राएँ भी बन्द हो जायेंगी। इस समय पिता तथा देश के प्रति मेरे कर्तव्यों में संघर्ष हो रहा है। इस स्थिति में मेरा मस्तिष्क निष्क्रिय-सा हो गया है। हर छुट्टी के दिन मैं मुलतान चला जाता हूँ और लौट आता हूँ।”

१२ दिन बाद लिखे एक पत्र में जिस पर कोई तिथि अंकित नहीं

है, किन्तु जो २२ जुलाई १८८६ को लाहौर से डाक में छोड़ा गया था, उन्होंने लिखा—“मुजफ्फरगढ़ से बाहर न जा पाने के कारण पं० गुरुदत्त विद्यार्थी बहुत दुखी हैं। ऐसा लगता है कि उन्हें अवकाश की सारी अवधि यहीं पर गुजारनी होगी। प्रचार कार्य के लिए यात्रा करने में वे सर्वथा असमर्थ हैं। पिताजी बहुत अस्वस्थ हैं और प्रत्येक क्षण उन्हें मेरी उपस्थिति की आवश्यकता है। मैं जानता हूँ कि अपने पिताजी को खुश रखने के लिए मुझे क्या-क्या वलिदान देने होंगे। इस समय आपकी क्या राय है?” इस लम्बे पत्र के अन्तिम भाग को उद्धृत करने के लोभ का मैं संवरण नहीं कर सकता क्योंकि इसमें सुधार के कार्य की मनोरम, भावना-प्रवण शैली में प्रभूत प्रशंसा की गई है और मेरे लिए एक नितान्त गम्भीर उपदेश के साथ इसे समाप्त किया गया है—

“लाजपतराय, क्या तुम अपने देश के स्थायी सुधार की किसी योजना के बारे में नहीं सोच सकते? तुम रोहतक या हिसार में रहकर क्या कर रहे हो? तुम जिस तरह की जिन्दगी जीने का सोचते हो, वह स्पृहणीय नहीं है। क्या वहाँ तुम्हें अच्छे दोस्त मिलें हैं। यदि हाँ, तो तुम खुश हो सकते हो। क्या वहाँ रहते हुए अपने देश को सुधारने की कोई योजना तुम्हारे पास है? क्या स्वयं की प्रकृति के अनुकूल चलने की प्रवृत्ति तुममें है। मैं तुम्हारी परिस्थितियों को भली भाँति जानता हूँ और यथासम्भव देश की भलाई के लिए यत्न भी करता हूँ।” इसी लहजे में वे आगे लिखते हैं—“ख्याति एक आश्चर्य-जनक प्रेरक भाव है। किन्तु मेरे प्यारे मित्र, तुम ख्याति के लिए इतने लालायित मत होओ, अनावश्यक आडम्बर न करते हुए अपने देश की ठोस भलाई करो। शान्तिपूर्वक काम करो, भविष्य में प्राप्त होने वाली ख्याति में तुम्हारा पुरस्कार होगा। आज की पीढ़ी ऐसी नहीं है जिसके माध्यम से तुम ख्याति के मन्दिर में प्रवेश पा सकों। उस व्यक्ति को धिक्कार है जो मृगमरीचिका के मिथ्या उपहार को लेकर ख्याति की देवी के मन्दिर में असफल प्रवेश चाहता है।” वास्तव में पं० गुरुदत्त के ये दिव्य भाव स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य हैं।

डी० ए० बी० कालेज की प्रबन्धक समिति द्वारा औपचारिक रूप से स्वीकृत एक प्रस्ताव में कालेज की सहायता हेतु ऐसे प्रतिनिधि मण्डलों को भेजे जाने की बात कही गई थी। परन्तु दुर्भाग्यवश

१८८६ में जिस कारण से वे उक्त प्रतिनिधि-मण्डल में शरीक नहीं हो सके, लगभग उसी प्रकार की अप्रत्याशित परिस्थिति १८८७ में भी बन गई। पण्डित जी के पिता अत्यन्त रुग्ण हो गये। उनका पुनः स्वस्थ होना असम्भव दिखाई पड़ा। प्रतिक्षण पं० गुरुदत्त को लगता था कि उनके आदरणीय पिता उनसे बिछुड़ जायेंगे। किन्तु इस बार देश के प्रति कर्तव्य-भावना अधिक मजबूत सिद्ध हुई और महान् पिता ने अपने प्यारे कर्तव्यपरायण इकलौते पुत्र को देश के प्रति अपनी जिम्मेवारी निभाने की स्वीकृति दे दी। ऐसे योग्य पिता के उस पुत्र को भी धन्य है और वह पिता भी साधुवाद का अधिकारी है, जिसे आदर्श देशभक्त पुत्र मिला। जुलाई और अगस्त में वे लगातार मुलतान आते जाते रहे जहाँ उनके पिता थे। उन्होंने अपने पिता की सुख-सुविधा के सारे प्रबन्ध कर दिये और २ सितम्बर को प्रतिनिधि-मण्डल में सम्मिलित हुए। इसमें लाला लालचन्द एम० ए०,^{३३} लाला मदनसिंह बी० ए०, लाला ज्वालासहाय^{३४} तथा पं० गुरुदत्त शामिल थे।

दिल्ली के मार्ग में लाला द्वारकादास^{३५} एम० ए० प्रतिनिधि-मण्डल में सम्मिलित हो गये और दिल्ली पहुँचने पर लेखक (लाजपतराय) भी आ मिला। मुझे याद है कि दिल्ली में रहते समय पण्डितजी को अपने पिता के मर जाने की आशंका प्रतिक्षण लगी रहती थी और वे किसी भी समय मिल जाने वाले इस समाचार से इतने भयभीत थे कि प्रायः प्रतिदिन उनके स्वास्थ्य की जानकारी प्राप्त करने के लिए तार भेजते थे। प्रतिनिधि-मण्डल का मुख्य काम था लोगों के घरों पर जाकर डी० ए० बी० कालेज के लिए चन्दा एकत्र करना। प्रायः प्रत्येक स्थान पर व्याख्यान भी होते, किन्तु सार्वजनिक सभाओं में चन्दे के लिए अपील नहीं की जाती। पूर्व परिचित अथवा अपरिचित के समक्ष उपस्थित होकर चन्दा माँगना एक ऐसा काम है जिसे बहुत सुखद नहीं कहा जा सकता है। यह काम अशोभनीय, थकान वाला तथा नाजुक भी है। जिन लोगों ने चन्दा माँगने का कार्य नहीं किया वे तो इसमें होने वाले कष्टों की कल्पना भी नहीं कर सकते। इस सम्बन्ध में दिल्ली में मुझे जो अनुभव थोड़े समय में ही हुए, उनके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि यदि मैं इसे राष्ट्र का काम समझकर नहीं करता तो निश्चय ही मेरे

लिए यह अत्यन्त तकलीफदेह रहता । जो लोग देशहित के लिए धन की याचना करते हैं उन्हें बदले में अपशब्द, व्यंग्य, हृदय को दुखाने वाली तथा अपमानजनक बातें ही पुरस्कार रूप में सुनने को मिलती हैं । किन्तु जो लोग समाज-सेवा के द्वारा सामाजिक जगत् में अपना उच्च स्थान बना लेना चाहते हैं, उन्हें अपने वैयक्तिक भाव का तो त्याग करना ही पड़ता है । मुझे तो इस प्रतिनिधि-मण्डल को अपनी बीमारी के कारण छोड़ना पड़ा था अतः मैं पाठकों को इस प्रतिनिधि-मण्डल द्वारा किये गए उत्साहपूर्ण कार्य का विवरण नहीं दे सकता । किन्तु लाला मदनसिंह बी० ए० द्वारा आर्यपत्रिका में लिखित रिपोर्ट के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि इस प्रतिनिधि-मण्डल ने पंजाब के आर्यसमाजों की लाज रख ली तथा पं० गुरुदत्त और लाला द्वारकादास के भाषणों को जिसने भी सुना, वह उनकी प्रशंसा किये बिना नहीं रहा ।

डेढ़ महीने की अवधि में प्रतिनिधि मण्डल ने अलीगढ़, बरेली, मुरादाबाद, लखनऊ, बनारस, इलाहाबाद, कानपुर तथा फर्रुखाबाद का दौरा किया तथा कालेज के लिए ५ हजार से अधिक धनराशि एकत्रित की । फर्रुखाबाद के आर्यसमाजियों से उन्होंने दान के रूप में कुछ भी ग्रहण नहीं किया क्योंकि वे इस हेतु जो कुछ देना चाहते थे वह उनकी सामाजिक स्थिति तथा मर्यादा से बहुत न्यून था । एक और भी कारण था । इस नगर में आने का उनका प्रयोजन चन्दा एकत्र करने की अपेक्षा स्थानीय आर्यसमाज के दो दलों में उत्पन्न विरोध भावना को शान्त कर उनमें मेलजोल उत्पन्न करना था । हाँ, यह सत्य है कि इस अवधि में उत्तर पश्चिमी प्रदेश के कई सभागार पंजाबी आर्यनेताओं की स्पष्ट, ओजस्वी तथा सारगर्भित वाणी से गूँज उठे थे । यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रतिनिधि-मण्डल की यात्रा का सम्पूर्ण खर्च प्रबन्धक सभा को वहन करना था, किन्तु इसके किसी भी सदस्य महानुभाव ने इस व्यय को लेने से इन्कार कर दिया तथा हर एक ने अपना खर्च स्वयं उठाया ।

पश्चिमोत्तर प्रदेश की इस यात्रा से लौटकर २६ अक्टूबर को पं० गुरुदत्त बिना कुछ श्रम अनुभव किये रावलपिण्डी पहुँचे और वहाँ की आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में उन्होंने दो व्याख्यान दिये । प्रथम का विषय था 'सूक्ष्म शरीर' तथा दूसरा व्याख्यान ऋग्वेद के प्रथम

दो मन्त्रों की विद्वतापूर्ण व्याख्या से सम्बद्ध था। इस व्याख्यान के दौरान उन्होंने श्रोताओं से अपनी आत्मा को उन्नत बनाने के लिए सर्वतोभावेन प्रयत्न करने की अपील की। उनका यह व्याख्यान जिस वाक्य के साथ समाप्त हुआ उसे हम 'रावलपिण्डी आर्यसमाज के संयुक्त मन्त्री के आधार पर लिख रहे हैं जो स्वयं उस उत्सव में उपस्थित थे। उन्होंने कहा था—“यदि आपको विश्वास है कि आपके भीतर एक आत्मा का निवास है, यदि आप यह मानते हैं कि भौतिक शरीर के साथ ही आपके जीवन की समाप्ति नहीं हो जायेगी, क्योंकि पाँचभौतिक शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा-रूपी अमर तत्त्व बच रहता है, तथा आप यह भी चाहते हैं कि आपकी आत्मा निरन्तर प्रगति के मार्ग पर गतिशील रहे और यह प्रगति अध्ययन से ही सम्भव है तो आपको डी० ए० बी० कालेज की स्थापना के कार्य में सहयोग करना चाहिए। आत्मोन्नति का कार्यक्रम मनुष्य मात्र का कार्यक्रम है और इस दिव्य उद्देश्य की पूर्ति में हिन्दुओं, मुसलमानों तथा ईसाइयों, सभी को आगे आना चाहिए।” तत्काल १२५३ रुपये चार आने तथा ६ पाई की रकम इकट्ठी हो गई। वे अभी लाहौर लौटे ही थे और एक रात भर विश्राम भी नहीं किया था कि तार द्वारा उन्हें अपने पिता की मृत्यु का अशुभ समाचार मिला। उन्होंने तुरन्त मुलतान में रह रहे अपने रिश्तेदारों तथा घर के नौकर को तार दिया और कहा कि उनके आने तक मृतक की अन्त्येष्टि न करें। दूसरे दिन सवेरे वे मुलतान के लिए चल पड़े। यहाँ आकर उन्होंने पूर्ण वैदिक रीति से पिता का अन्त्येष्टि संस्कार किया। उन्हें आशंका थी कि इस कार्य का विरोध स्वयं उनकी माता ही कर सकती है जो पुराने विचारों की थी। किन्तु माता ने अपने सुयोग्य पुत्र का ही सुझाव माना और बिरादरी के लोगों की कुछ भी परवाह नहीं की। इस अवसर पर दिखाई गई उनकी वीरतापूर्ण भावना तथा नैतिक साहस के बारे में कुछ लिखने की अपेक्षा मैं आर्यपत्रिका के १५ नवम्बर १८८७ के सम्पादकीय की कुछ पंक्तियों को उद्धृत करूँगा। पिता की मृत्यु से हुई अपार क्षति के प्रति अपनी संवेदना प्रकट करने के पश्चात् सम्पादक लिखता है—

“हमारे भाई पं० गुरुदत्त ने इस अवसर पर अपनी उदात्तवृत्ति का परिचय दिया। उन्होंने अपने पिता का अन्त्येष्टि संस्कार पूर्ण

वैदिक मर्यादा के अनुसार किया। उनकी बिरादरी के लोगों ने, जो मुलतान शहर के प्रभावशाली बाशिन्दे हैं, उनको स्वजाति से बहिष्कार करने की धमकी दी, किन्तु पं० गुरुदत्त ने उनकी इन वाचालतापूर्ण धमकियों की कोई परवाह नहीं की। उन्होंने अपने जाति बन्धुओं से साफ कह दिया कि वे जो कुछ करना चाहें कर लें, किन्तु जहाँ तक उनका सवाल है, उन्हें अपने पिता की प्रेत क्रिया को वैदिक रीति से करने के निश्चय से कोई नहीं हटा सकता। बिरादरी के लोगों ने उन्हें बार-बार डराया, धमकाया, किन्तु उसका कोई परिणाम नहीं निकला। वे जरा भी टस से मस नहीं हुए तथा उन्होंने अपने बिरादरी के उन लोगों की कठिन चुनौती का वीरतापूर्ण आर्योचित ढंग से सामना किया, जो अपनी धमकियों के द्वारा उन्हें भयभीत करना चाहते थे।

वैदिक रीति से मृत शरीर को अग्नि के समर्पित किया जाना था, परन्तु नगर के सैकड़ों स्त्री-पुरुषों के लिए यह एक सर्वथा अनोखा ही दृश्य था इसलिए वे संस्कार की क्रिया को देखने के लिए शव-यात्रा के साथ श्मशान की ओर चल पड़े। इन लोगों में अधिक संख्या ऐसे ही लोगों की थी जो गुरुदत्त की बिरादरी से दूर या निकटता से जुड़े थे। उन्हें शव-यात्रा में जाने तथा मृतक की अर्थी को देखने से रोकने के भी बहुत प्रयत्न किये गये। यहाँ तक कि स्त्रियों को रोकने के लिए तो बल-प्रयोग भी किया गया, किन्तु इन लोगों ने अपने संरक्षकों द्वारा उपस्थित की गई बाधाओं की थोड़ी भी परवाह नहीं की। वे शव के साथ श्मशान में गये तथा अन्त्येष्टि संस्कार के पूरा होने पर ही लौटे। हमारे भाई पं० गुरुदत्त के इस वीरतापूर्ण तथा आर्योचित व्यवहार ने अपना नैतिक प्रभाव डाला जिसे आर्यसमाजियों तथा अन्यो ने समान रूप से अनुभव किया। इस अवसर पर दिखाये गये पं० गुरुदत्त के पुरुषोचित तथा रूढ़ियों से समझौता न करनेवाले आचरण ने साधारण आर्यों को भी बता दिया कि 'आर्य' शब्द में ही कुछ असरदार बात है। इस नाम को धारण करनेवाले व्यक्तियों को तत्सदृश आचरण भी करना पड़ता है तथा स्वयं के लिए एक निश्चित विधि-विधान भी तय करना होता है। उसे अपने निजी तथा सार्वजनिक मामलों में कुछ मर्यादाओं का पालन करना ही पड़ता है, चाहे उसके मार्ग में कितनी ही कठिनाइयाँ क्यों न आवें। आर्येतर

व्यक्तियों ने इस घटना से यह जाना कि आर्यों में चारित्रिक दृढ़ता किस मात्रा में होती है तथा सचाई की रक्षा करने का अवसर आने पर वे किस प्रकार सत्य पर आरुढ़ रहते हैं। आर्य शास्त्रों के अनुसार अपने पिता की अन्त्येष्टि में मोटे तौर पर उन्हें २०० रुपये व्यय करने पड़े। यदि प्रचलित रीति से वे शव का दाह करते तो शायद उन्हें २० या ३० रुपये से अधिक व्यय नहीं करना पड़ता।”

अपने पिता का मृतक संस्कार करने के पश्चात् वे तुरन्त लाहौर लौट आये। यहाँ २६, २७ को आर्यसमाज लाहौर के १०वें वार्षिकोत्सव की तैयारियाँ चल रही थीं। इस अवसर पर उन्होंने दो व्याख्यान दिये। प्रथम हिन्दी में डी० ए० वी० कालेज विषयक था, दूसरा अंग्रेजी में त्रैतवाद पर दिया गया। हम उस अवसर पर उपस्थित नहीं थे, अतः हमारे पाठकों को आर्यपत्रिका में छपे इन व्याख्यानों के विवरणों पर ही सन्तोष करना होगा।

“पं० गुरुदत्त द्वारा इस अवसर पर दिये गये व्याख्यानों में जो गाम्भीर्य तथा भावप्रवणता थी, उसका विवरण देना भी असम्भव है। उनके व्याख्यान के समय सभा भवन में मृत्युकाल जैसा सन्नाटा छा गया था। तीन हजार से कुछ कम लोग निर्वाक भाव से वहाँ बैठे हुए थे। उन्होंने जो कुछ कहा, उसमें सचाई और गरिमा थी। उनके मुख से जो उद्गार निकले, वे हादिक भावों को ही अभिव्यक्त करते थे। उनकी कथन शैली तथा भाषा इस तथ्य के प्रमाण थे कि वे उसी बात को कह रहे हैं जो उनके मन में है। लोगों में स्फूर्ति उत्पन्न करने वाले ऐसे भाषण हमने बहुत कम सुने हैं। सत्य तो यह है कि हृदय से निकली भाषा, चाहे वह कितनी ही सरल क्यों न हो, उस उत्कृष्ट वाग्मिता को पीछे छोड़ जाती है जिसमें सचाई तथा गाम्भीर्य का अभाव होता है। उन्होंने अपने कथन की पुष्टि में स्वामी दयानन्द के जीवन की अनेक घटनाओं को प्रस्तुत किया और हम पूर्ण सत्यता के साथ कहना चाहते हैं कि उस समय हमने अनेक लोगों को आँसू बहाते देखा।

“हमारे पास इतना स्थान नहीं है कि हम उनके व्याख्यान की मात्र रूपरेखा ही दे दें। वस्तुतः वह एक विस्मयोत्पादक वक्तृता थी। उनके व्याख्यान का मूल विषय डी० ए० वी० कालेज का प्रस्ताव था, जिसे कि स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित शाश्वत सत्यों की स्मृति को

सुरक्षित रखने की भावना से स्थापित किया जाना है। इससे भिन्न इसका कोई अन्य प्रयोजन नहीं है। इस कालेज को केवल स्वामी दयानन्द जैसे विख्यात समाज-सुधारक के व्यक्तित्व का स्मारक कहना ही उचित नहीं होगा अपितु इसकी स्थापना में धर्म और नैतिकता के उन सिद्धान्तों के स्मारक का निर्माण करना है जो अपरिवर्तनीय सत्य के रूप में स्वामीजी के जीवनोद्देश्य रहे हैं। जो भी व्यक्ति इन शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील सत्यों को मूल्यवान् स्वीकार करता है वह तो डी० ए० बी० कालेज कोष के लिए निश्चय ही कुछ न कुछ दान अवश्य देगा। किन्तु व्याख्यानदाता इस आन्दोलन के लिए उन लोगों से एक पैसा भी लेने का इच्छुक नहीं था जो कालेज-स्थापना के इस विचार से सहमति नहीं रखते थे, क्योंकि वह अपने दिल से पाखण्डपूर्ण आचरण का विरोधी है। तालियों की गड़गड़ाहट के बीच वक्ता ने अपना व्याख्यान समाप्त किया। इस अवसर पर पाँच हजार रुपये एकत्र हुए। इनमें से ४१२८ रुपये नकद मिले और अवशिष्ट राशि को बाद में देने के वादे प्राप्त हुए। प्रातःकाल की यह सभा दोपहर १ बजे जाकर समाप्त हुई।”

अंग्रेजी व्याख्यान के बारे में पत्रिका में जो कुछ कहा गया उसका भाव इस प्रकार है—“व्याख्यान का सार इस तथ्य को प्रतिपादित करना था कि बिना तीन अनादि तत्त्वों की सत्ता को स्वीकार किये कोई भी धर्म या विश्वास ठोस आधार ग्रहण नहीं कर सकता। ये अनादि तत्त्व हैं—‘ईश्वर, जीव तथा प्रकृति।’

अगले मास उन्होंने चार व्याख्यान दिये, तीन अंग्रेजी में तथा एक हिन्दी में। अंग्रेजी के दो व्याख्यान लाहौर में हुए जिनके विषय थे—आन्तरिक जीवन के तथ्य^{३६} (यह एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हो चुका है तथा इसकी चर्चा इसी पुस्तक में अन्यत्र हुई है) तथा जीवन का उद्देश्य। दो अन्य व्याख्यान अजमेर में सत्य एवं आर्यसमाज पर दिये।

मैं उनके इन अन्तिम दो व्याख्यानों में उपस्थित था और पूर्ण विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि इनमें से प्रथम तो अद्वितीय था। व्याख्यान का विषय उनकी विशिष्ट रुचि का था। इसकी विवेचना में उन्होंने सभी प्रकार की कूटनीतिक चालाकियों की निन्दा की तथा जीवन की पवित्रता पर विशेष बल दिया। इस व्याख्यान ने श्रोतृ-

मण्डली को अन्तर्तम तक प्रभावित किया तथा हमारे कई भाई कपट एवं पाखण्ड के गर्त में गिरने से बच गये। वक्तृता के समय से पहले पं० गुरुदत्त के ज्वरग्रस्त हो जाने के कारण उनके अन्य व्याख्यानों में वैसी पूर्णता और समग्रता नहीं आ सकी। तथापि व्याख्यान का आरम्भ ठीक समय पर हुआ और वह एक घण्टे तक चलता रहा।

इन व्याख्यानों का उल्लेख करते हुए मैं यह बताना चाहता हूँ कि मेरे अतिरिक्त लाला साईदास, लाला हंसराज तथा ज्वालासहाय उस समय बड़े दिन की छुट्टियों में परोपकारिणी सभा के अधिवेशन में भाग लेने अजमेर गये थे और इसी अवसर पर दयानन्द आश्रम की नींव का पत्थर रखवा गया था।^{३०} जब हम पुष्कर जाकर लौटे तो हमसे मिलने विभिन्न प्रान्तों के लगभग २०० आर्यसमाजी एकत्र हो गये और उन्हें पंजाब के आर्यसमाज के सभासद रूपी पुष्पों की सुरभि और सरलता को देखने का अवसर मिला था।

पश्चिमोत्तर प्रदेश के हमारे भाइयों ने जब पंजाब के आर्य सभासदों को देखा तो वे आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रहे। उच्च पदों पर कार्य करने वाले ये लोग यहाँ भुने चनों को गुड़ से खाते प्रसन्नता का अनुभव कर रहे थे। कारण यह था कि जब हम पहाड़ियों से नीचे उतरें तो हमें बहुत भूख लगी हुई थी। हमने पहाड़ की जड़ में सड़क पर स्थित एक ऐसी दूकान को देखा जहाँ परचून खाने की चीजें बिक रही थीं। यहाँ हमें भुने चनों और गुड़ से और कोई अधिक स्वच्छ चीज खाने के लिए नहीं मिली और हम भूखे पेट होने के कारण इन्हीं पर टूट पड़े।

अजमेर से चलकर हम जयपुर आये। यहाँ पं० गुरुदत्त तथा अन्योंने महाराजा संवाई जयसिंह निर्मित ज्योतिष यन्त्रों (जन्तर मन्तर) को देखा। आज तो उक्त महाराजा द्वारा बनाई यह वेधशाला टूटी-फूटी अवस्था में है किन्तु किसी समय यह खगोल विज्ञान का केन्द्र थी। इसी से हमारी विगत बौद्धिक उपलब्धियों तथा पूर्ण रूप से विस्मृत वैज्ञानिक सफलताओं का ज्ञान होता है।

अध्याय ६

पं० गुरुदत्त का डी० ए० बी० कालेज
के लिये पुरुषार्थ

१८८८ के वर्ष में उनकी व्यस्तताओं का पारावार ही नहीं था । १८ जनवरी को पं० गुरुदत्त विद्यार्थी ने लाहौर आर्यसमाज में भगवान् कृष्ण की शिक्षाओं पर एक भाषण दिया । अनेक दृष्टियों से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्याख्यान था । उन्होंने बताया कि कृष्ण वास्तव में कोई ऐतिहासिक पुरुष नहीं थे, अपितु उनका वर्णन रूप-कात्मक शैली में किया गया है । आर्यपत्रिका के ३१ जनवरी १८८८ के अंक में छपे उनके इस भाषण के विवरण से कुछ चुने हुए अंश हम यहाँ दे रहे हैं—“इस व्याख्यान का भाव नितान्त नूतन था । उन्होंने हिन्दुओं में प्रचलित कृष्ण विषयक इन दोनों विश्वासों का प्रतिवाद किया कि (१) वे ईश्वर के अवतार थे तथा उन्होंने अनेक चमत्कार-पूर्ण कृत्य किये, (२) उन्होंने किसी दार्शनिक विचारधारा का प्रवर्तन किया । एक अन्य प्रचलित धारणा यह है कि कृष्ण ने अर्जुन को महाभारत का युद्ध लड़ने के लिए प्रेरणा दी । इस प्रकार कौरव पाण्डवों का परस्पर युद्ध करवाकर उन्होंने आयों की सर्वोपरि सत्ता को समाप्त किया तथा भारत को वर्तमान दुर्दशा तक पहुँचाया । व्याख्यानदाता ने कहा कि कृष्ण की वास्तविक शिक्षाओं को न समझने के कारण ही उनके बारे में उपर्युक्त भ्रान्त धारणाएँ प्रचलित हुई हैं ।”

“उन्होंने कहा कि द्विजन्मा होने की धारणा अर्थात् मानव की आध्यात्मिक वृत्तियों का पुनः जन्म लेना ही दैवत्व की प्राप्ति है । मनुष्य जब संसार और उसकी वास्तविकता का चिन्तन करता है तो उसे कई सोपानों पर होकर जाना पड़ता है । ऐसे प्रत्येक सोपान पर आरोहण करते समय उसे अपने बौद्धिक और आध्यात्मिक विचारों

के बीच संघर्ष का सामना करना पड़ता है। बड़ी कठिनाई से वह बौद्धिक विचारों पर विजय पाता है और ईश्वर के प्रति उसका बौद्धिक विश्वास ही उसे आध्यात्मिक अनुभूति तक पहुँचाता है। व्याख्याता ने बताया कि कृष्ण के उपदेशों का सारभूत गीता ग्रन्थ हमें यही सिखाता है। फलतः ऊपर उल्लिखित कृष्ण विषयक चारों धारणाओं का कोई ठोस आधार नहीं है। उन्होंने यह भी बताया कि मनुष्य के इस प्रकार द्विजन्मा होने की प्रक्रिया में उसे उच्च आध्यात्मिक स्थिति तक पहुँचने से पूर्व जिन-जिन उच्चस्थितियों से होकर गुजरना पड़ता है, गीता के भिन्न-भिन्न अध्यायों में इन्हीं स्थितियों का वर्णन है।”

व्याख्यानदाता ने कृष्ण और उनके परिवेश की साम्यता क्राइस्ट और उनके परिवेश से बताई^{३६} और कहा कि भारत से चलकर यूरोप की ओर बढ़ने वाले आप्रवासी लोग अपने मूल स्थान से पृथक् हो जाने के कारण कृष्ण की शिक्षाओं के बारे में बहुत अस्पष्ट-सी धारणा ही रखते थे। कृष्णविषयक जिन उपपत्तियों को पं० गुरुदत्त ने अपने व्याख्यान में प्रस्तुत किया, उनसे सब लोगों का सहमत होना कठिन ही था। आर्यपत्रिका का सम्पादक भी उनकी उपर्युक्त धारणाओं से मतभेद रखता था। कृष्ण विषयक गुरुदत्त के उक्त विचार निश्चय ही हमें आश्चर्यकर लगेंगे। कारण स्पष्ट है। आज के हिन्दू शताब्दियों से महाभारत में वर्णित कृष्ण और अर्जुन आदि पात्रों को ऐतिहासिक व्यक्ति समझते आये हैं^{३७} तथापि यह कहना नितान्त अयुक्तिसंगत तो नहीं है कि हमारे मित्र द्वारा उपस्थापित धारणाएँ विचारणीय अवश्य हैं। महाभारत के भावी अन्वेषकों को इससे पर्याप्त संकेत तथा दिशा-निर्देश मिल सकते हैं।

२६ जनवरी को आर्यसमाज अमृतसर के १०वें वार्षिकोत्सव के अवसर पर उपस्थित एक बड़े जन-समूह के समक्ष उन्होंने व्याख्यान दिया। ‘वैदिक शिक्षा की श्रेष्ठता’ इस व्याख्यान का विषय था। समाज मन्दिर की दीवारों पर अंकित एक दो वेदमन्त्रों की उन्होंने अपनी प्रचलित शैली में व्याख्या की। आर्यपत्रिका की टिप्पणी है कि “उनके द्वारा प्रस्तुत यह व्याख्या इतनी समग्र, विद्वत्तापूर्ण तथा गम्भीर थी कि सुनने वालों की आत्मा में पैठ जाने में उसे तनिक भी कठिनाई नहीं हुई।”

आर्यपत्रिका के ७ फरवरी १८८८ के अंक में छपे इस व्याख्यान के विवरण का यह उद्धरण उन लोगों को अत्यन्त रुचिकर लगेगा जो इस बात पर जोर देते हैं कि जनसाधारण का सुधार करने से पहले सुधारकों को अपना सुधार तो कर ही लेना चाहिए। वे कहते हैं— “यह असंभव है कि एक व्यक्ति जो सही अर्थों में वेदों पर विश्वास रखता है, वह शब्द के वास्तविक अर्थ में मनुष्य नहीं होगा। प्यासा आदमी अपनी प्यास बुझाने के लिए उस स्थान की ओर दौड़कर जाता है जहाँ उसे पानी मिल सकता है। उसे इस कार्य से विरक्त करने के लिए आप चाहे कितना ही प्रयत्न करें और चाहे कितने ही तर्क प्रस्तुत करें कि इस पानी से उसकी प्यास नहीं बुझेगी, वह आपके तर्कों को नहीं सुनेगा और तुरन्त उस स्थान की ओर बढ़ेगा जहाँ उसे पानी मिल सकता है। इसी प्रकार यदि लोग यह जान जायें कि वेदों में आदि से अन्त तक सत्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, और यदि वे इस तथ्य को पूर्ण रूप से अनुभव कर लें तो वे सत्य के मार्ग से कभी विचलित नहीं होंगे और न ही कभी वेदाज्ञा के विपरीत आचरण करेंगे। आर्यसमाज ने अब तक जो इच्छित उन्नति नहीं की है, उसका कारण यही है कि इसके सदस्यों में से अधिकांश यद्यपि वेदों में विश्वास करने का दावा करते हैं किन्तु इस विश्वास का अर्थ और उसमें निहित शक्ति को अभी तक अनुभव नहीं कर सके हैं। यदि वे यह अनुभव कर लें, तो वे अपने मानवीय गुणों का परिपूर्ण विकास कर सकते हैं। वेदों के प्रति सच्चे विश्वास के आदर्श रूप में उन्हें स्वामी दयानन्द सरस्वती को स्मरण करना चाहिए।”

उन्होंने व्याख्यान की समाप्ति डी० ए० बी० कालेज के लिए धन की अपील करते हुए की और परिणामस्वरूप लगभग २५०० रुपये तत्काल प्राप्त हो गये। एक विशेष उल्लेखनीय बात यह रही कि लगभग १२ रुपये मिशन स्कूल के छात्रों ने दिये और इससे आधे इस्लामिया स्कूल के विद्यार्थियों से मिले।

इस वर्ष के पंजाब विश्वविद्यालय के परीक्षा परिणामों में डी० ए० बी० हाईस्कूल के छात्रों का परिणाम सर्वोत्तम रहा, इसलिए एक विचार यह रखा गया कि यहाँ कालेज की प्रथम वर्ष की कक्षा आरम्भ कर दी जाये। पं० गुरुदत्त विद्यार्थी कालेज कक्षा खोलने के समर्थक थे और उनको लाला साईदास का शक्तिशाली समर्थन

प्राप्त था। किन्तु प्रबन्धक समिति के हमारे सुयोग्य प्रधान लाला लालचन्द तथा कुछ अन्य सदस्य इस विचार को असामयिक और अपरिपक्व मानते थे। उनका कहना था कि फिलहाल इस विचार को स्थगित रक्खा जाय। प्रबन्धक समिति की जिस बैठक में यह प्रस्ताव विचारार्थ आया, वहाँ इस पर बहस भी हुई और कुछ रोचक प्रसंग उपस्थित हुए। प्रायः प्रत्येक सदस्य ने डी० ए० वी० कालेज की स्थापना का समर्थन किया, फिर भी वहाँ दो भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किये गये। इस पुस्तक का लेखक तो अविलम्ब कालेज की कक्षा आरम्भ करने के पक्ष में था किन्तु विरोध में आन्दोलन के कुछ अत्यन्त प्रभावशाली नेता लोग थे। अन्ततः मतगणना हुई और केवल एक वोट से लाला साईदास के पक्ष की विजय हुई। इस विजय को ईश्वर-प्रदत्त ही मानना होगा क्योंकि मत-विभाजन से ठीक पूर्व विरोधी पक्ष का एक व्यक्ति बैठक से चला गया था।

यदि वह व्यक्ति उपस्थित होता तो उसका मत कालेज की कक्षा खोलने के खिलाफ जाता। उस स्थिति में अध्यक्ष को अपना निर्णायक मत देना पड़ता और इस प्रकार प्रस्ताव के समर्थकों और विरोधियों की संख्या बराबर हो जाती।

इस कार्य के लिए तुरन्त एक उपसमिति बनाई गई। पं० गुरुदत्त इसके सदस्य नियुक्त हुए। लाला लालचन्द को इस बात का श्रेय देना चाहिए कि यद्यपि वे प्रथम वर्ष की कक्षा आरम्भ करने के पक्ष में नहीं थे, तथापि उन्होंने बहुमत के निर्णय को स्वीकार ही नहीं किया, कालेज की कक्षा आरम्भ करने के लिए बनाई गई उपसमिति के सभासद भी बने। कालेज कक्षाओं को चलाने के लिए मासिक चन्दे की विशेष सूची बनाई गई और लाला ज्वालासहाय ने ५५ रुपया मासिक चन्दा लिखाया। पं० गुरुदत्त विद्यार्थी ने भी एक वर्ष तक १० रुपये मासिक देना स्वीकार किया।

अन्ततः कालेज कक्षाएँ आरम्भ हुईं और पं० गुरुदत्त ने इन श्रेणियों को विज्ञान तथा गणित पढ़ाना आरम्भ किया। गणित तो उन्होंने थोड़े समय तक ही पढ़ाई, जब तक इस विषय के प्रोफेसर के पद पर एक अन्य योग्य व्यक्ति की नियुक्ति नहीं हो गई। विज्ञान का विषय तो वे कई महीनों तक पढ़ाते रहे। उनके विद्यार्थियों को अपने इस प्रोफेसर पर उचित गर्व था क्योंकि पं० गुरुदत्त स्वयं अपने

प्रान्त पंजाब के विज्ञान के सर्वश्रेष्ठ विद्यार्थी रह चुके थे तथा इस समय गवर्नमेंट कालेज लाहौर में विज्ञान के कार्यवाहक प्रोफेसर थे। इसी वर्ष की गर्मियों में उन्होंने आर्यसमाज लाहौर के मन्दिर में मोनियर विलियम्स^{११} तथा उनकी पुस्तक इण्डियन-विजडम की समीक्षा में एक भाषणमाला प्रसारित की। इन व्याख्यानों को सुनने के लिए लाहौर के पठित वर्ग के बहुत लोग एकत्र हुए क्योंकि वे वक्ता के मुख से यह सुनना चाहते थे कि यूरोप के इन तथाकथित प्राच्यविद्याविदों का वास्तविक रूप कैसा है? मैं चूँकि लाहौर से २०० मील दूर था,^{१२} अतः इन व्याख्यानों को सुनने का सुअवसर मुझे नहीं मिला, किन्तु उच्चपदस्थ सुशिक्षित लोगों के मुँह से मैंने सुना कि ये व्याख्यान पण्डित गुरुदत्त की योग्यता के अनुरूप ही थे। २४ जुलाई १८८८ की आर्यपत्रिका ने इन व्याख्यानों के बारे में निम्न टिप्पणी लिखी—

“हमारे विद्वान् मित्र पं० गुरुदत्त विद्यार्थी एम० ए० मोनियर विलियम्स और इण्डियन-विजडम पर अपने व्याख्यान देकर पठित वर्ग के प्रति सामान्यतः और लाहौर की शिक्षित जनता के प्रति विशेषतः उपकार कर रहे हैं। इस भाषण क्रम में उन्होंने तीन व्याख्यान तो पहले ही दे दिये, किन्तु इस भाषणमाला में कुल व्याख्यानों की संख्या २० और ३० के बीच अथवा इससे भी अधिक हो सकती है। अभी तक के भाषणों में वे विषय का परिचय ही दे पाये हैं। विषय-विवेचन की दृष्टि से ये भाषण प्रांजल तथा अद्वितीय ही हैं। इसमें प्रयुक्त भाषा अत्यन्त सरल है, अतः साधारण बुद्धि के व्यक्तियों के लिए भी वह सुगम तथा सुबोध है। इनकी लोकप्रियता का कारण है वह शैली जिसमें इन्हें प्रस्तुत किया गया है। इण्डियन-विजडम के प्रत्येक अनुच्छेद को वक्ता ने अत्यन्त धीमे स्वर में दो बार पढ़ा, तत्पश्चात् उसमें व्यक्त भाव का विश्लेषण किया। इसके बाद बहुत ही ठोस युक्तियों से इस ग्रन्थ की उपपत्तियों का वेद, उपनिषद् तथा अन्य प्रामाणिक आर्यशास्त्रों से उपयुक्त उद्धरण देकर खण्डन किया। हमारे इस विद्वान् (?) प्राच्य विद्या के जानकार की इस पुस्तक में आर्य साहित्य, विज्ञान तथा कला के बारे में जो भ्रामक कथन किया गया है, उसे वे भली भाँति समझ सके हैं, जिन्होंने पं० गुरुदत्त के इन व्याख्यानों को सुना है। पश्चिम के इन विद्वानों के लिए यह उचित नहीं था कि वे हमारे अतीत का जानकर या अनजाने

में अन्धाधुन्ध गलत चित्रण करते। हमारा अनुमान है कि ये व्याख्यान पुस्तकाकार छपेंगे। इनके प्रकाशन से भारतीय समाज का असीम उपकार होगा। इससे दुनिया के लोगों को पता चल सकेगा कि प्राच्यविद्याविद् जिन विषयों के बारे में अपनी परिपूर्ण जानकारी रखने का दम भरते हैं, वास्तव में उनका एतद्विषयक ज्ञान कितना खोखला है।” इस विषय पर कई व्याख्यान हुए और पं० गुरुदत्त ने उन्हें पुस्तक-रूप में छपाने का विचार किया है। इस प्रकार ये व्याख्यान विक्रयार्थ उपलब्ध हो जायेंगे और लोग स्वयं ही इन्हें पढ़कर अपना निर्णय कर सकेंगे।

इस वर्ष उन्होंने सामवेद संहिता का अध्ययन किया और उसमें प्रतिपादित संगीत विद्या भी सीखी। १२ अक्टूबर को आर्यसमाज पेशावर के ७वें वार्षिकोत्सव के अवसर पर उन्होंने एक बहुत बड़े जनसमूह के समक्ष पवित्र वेदमन्त्रों को संगीत की रुचिकर पद्धति से गाकर सुनाया, जिससे उन्हें प्रभूत आनन्द मिला। जो लोग यह धारणा बनाए हुए थे कि वेद मन्त्रों के छन्द तो प्रायः अनुकान्त होते हैं, अतः उन्हें संगीत के मधुर सुरों में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, उन्हें वेद मन्त्रों के इस प्रकार किये गये सरस उच्चारण को सुनकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ। उनके विचार में तो वेद मन्त्रों के गायन का यह सर्वथा अभिनव प्रकार ही था, किन्तु वास्तव में नया तो यह उनके लिए था जो वेद मन्त्र गान की इस पद्धति से सर्वथा अनभिज्ञ थे। श्रोताओं को और अधिक आनन्दित करने के लिए पं० गुरुदत्त इन मन्त्रों की व्याख्या भी करने लगे। आर्यपत्रिका के १३ नवम्बर के अंक में मास्टर दुर्गाप्रसाद लिखते हैं कि “उपस्थित श्रोताओं के अप्रत्याशित आनन्द का कोई पार ही नहीं था। इस आनन्द की तुलना उस खान खोदने वाले के आनन्द से की जा सकती है जिसे अनेक वर्षों तक खान को खोदने के काम पर ही लगाये रखा गया हो और जिसने अब तक सिवाय मिट्टी खोदने के और कुछ नहीं किया किन्तु अचानक ही उसे धरती के गर्भ में छिपी अपार स्वर्णराशि दीख जाती है। उनकी इस व्याख्या ने तो वक्तृता और संगीत के आनन्द को भी पीछे रख दिया।”

दूसरे दिन पं० गुरुदत्त ने हिन्दी में भाषण दिया। आरम्भ में उन्होंने मनुस्मृति के निम्न श्लोक को पढ़ा—

अर्थ कामेष्वसक्तानां धर्मं ज्ञानं विधीयते ।

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥—२।१३

इस भाषण के सम्बन्ध में आर्यपत्रिका के उसी अंक से मास्टर दुर्गाप्रसाद लिखित टिप्पणी को हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

“वक्ता ने कहा—आज का समाज एक ऐसा महासागर बन गया है जो भ्रमोत्पादक लौकिक आनन्द की लहरों से युक्त है। कामिनी और कंचन के प्रेम ने लोगों को अपने जीवन के वास्तविक लक्ष्य से विमुख कर दिया है। धन के लोभ ने लोगों को वास्तविक धर्म के गुणों को पहचानने के अयोग्य बना दिया है। जब तक लोग अपनी सांसारिकता को नहीं त्यागेंगे तब तक वे धर्म को ग्रहण करने में भी असमर्थ रहेंगे। इसके पश्चात् उन्होंने धर्म को परिभाषित किया तथा श्रोताओं के समक्ष वेदों की चर्चा की, जिनसे जीवन के रहस्य का ज्ञान होता है। जब जीवन के रहस्य की खोज में वक्ता ने अपने श्रोताओं को वैज्ञानिक सिद्धान्तों के उद्यान में भ्रमण कराना आरम्भ किया तो उस समय का उनका कथन अत्यन्त तर्कपूर्ण, वक्तृता की दृष्टि से अत्यधिक प्रभावयुक्त तथा ज्ञानवर्धक था। उन्होंने बताया कि जिस दिशा से हमें कुछ भी प्राप्त नहीं होना है, यदि हम उसी ओर आशा की दृष्टि लगाये रखें तो हमारे प्रयत्न कितने निरर्थक होंगे तथा परिणाम में हमें कितनी निराशा मिलेगी, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है।”

“वेदों से एक मन्त्र को उद्धृत कर उन्होंने जीवन के रहस्य को स्पष्ट किया तथा उसकी व्याख्या करते हुए कहा कि यदि हम वेदों का पूर्वाग्रह मुक्त एवं अध्यवसायपूर्ण अध्ययन करें तो जीवन की पहली विषयक अपनी जिज्ञासा को शान्त कर सकते हैं। इस असाधारण उपदेश को सुनकर सम्पूर्ण श्रोतृ मण्डली आश्चर्याभिभूत तथा सम्मोहित-सी हो गई। उनके इस व्याख्यान का प्रभाव अत्यन्त शिक्षाप्रद, सन्तोषजनक तथा शान्तिदायक रहा। इस वक्तृता से पवित्र वेदों के लोकोत्तर दर्शन में प्रदर्शित धर्म की महत्ता एवं उपयोगिता का एक स्पष्ट, ओजस्वी तथा आनन्ददायी चित्र श्रोताओं के समक्ष उभरकर आया। स्वयं की वैज्ञानिक जानकारी की कमी के कारण मैं इस व्याख्यान के मूल अभिप्राय को प्रस्तुत करने में अपने को असमर्थ पाता हूँ। इतना कहना ही पर्याप्त है कि इस वक्तृता से

अधिक तर्कपूर्ण तथा सन्तुष्टिकारक वार्ता हमने नहीं सुनी ।”

उनके अन्य महत्त्वपूर्ण व्याख्यान आर्यसमाज लाहौर के वार्षिक उत्सव के अवसर पर हुए । उर्दू में उन्होंने डी० ए० बी० कालेज पर तथा अंग्रेजी में वेद विद्या पर व्याख्यान दिया । ४ दिसम्बर १८८८ की आर्यपत्रिका के अंक से इन व्याख्यानों का विवरण नीचे दिया जा रहा है—

“आरम्भिक भाषण के समाप्त हो जाने पर डी० ए० बी० छात्रावास के बालक उपासना के आसनों पर बैठ गये और उन्होंने सामूहिक सन्ध्या की । सांसारिक बुद्धि वाले लोगों पर सन्ध्या के इन मन्त्रों का परिपूर्ण तथा हितकारी प्रभाव पड़ा । इसके पश्चात् इन छात्रों ने वेदों के उन मन्त्रों का पाठ किया जिनमें परमात्मा के स्वरूप एवं गुणों का वर्णन है तथा मनुष्य का अपने विधाता एवं अपने साथ वालों के प्रति कर्तव्यों का निरूपण मिलता है । तदनन्तर पं० गुरुदत्त विद्यार्थी अपना व्याख्यान देने के लिए खड़े हुए । उन्होंने कहा कि आधुनिक विज्ञान अपने समस्त गुणों के बावजूद जीवन की समस्याओं पर रोशनी नहीं डालता । मनुष्य के मन को आन्दोलित करने वाले सबसे महान् तथा सर्वाधिक कठिन प्रश्न का विज्ञान कोई समाधान उपस्थित नहीं करता । यह प्रश्न है मानवता की उत्पत्ति तथा उसकी नियति का ज्ञान । आज का वैज्ञानिक भले ही शरीर की एक-एक नस, नाड़ी और अस्थि की चीरफाड़ कर डाले, सर्वाधिक शक्तिशाली अनुवीक्षण यन्त्र के नीचे रखकर रक्त की बूंद का समग्र विश्लेषण कर ले, किन्तु उपर्युक्त सवाल का समाधान ढूँढ़ने में वह पूर्ण असफल हुआ है । वह जीवन के रहस्य को उद्घाटित नहीं कर सका । मनुष्य चाहे आने वाले युगों तक भौतिक वस्तुओं का विश्लेषण करता रहे, उनको लेकर विविध प्रयोग करता रहे, किन्तु वह जीवनविषयक प्रश्न को लेकर बहुत समझदार नहीं बन पाया है । वेद की सहायता के बिना इस प्रश्न का उत्तर मिलना भी कठिन है । उस महान रहस्य के पर्दे को वेद ही उठा सकते हैं और अन्ततः वैज्ञानिकों को उनकी ओर ही लौटकर आना है । इस प्रकार की प्रवृत्ति के लक्षण अब प्रकट हो रहे हैं । प्राचीन ऋषियों ने वेदों को सारे विज्ञानों का आदिस्त्रोत जो ठहराया, वह सर्वथा उचित ही था । उन्होंने स्वयं को पूर्णरूपेण वेदों के अध्ययन में लगा दिया था ।

वेदों में निहित सत्य का ही उन्होंने चिन्तन और विचार किया था। उस समय आर्यावर्त वैभव और आनन्द की जिस स्थिति में था उसकी तुल्यता आज के युग में तलाशना व्यर्थ ही है। वेदों के अध्ययन से इस लोक तथा परलोक में आनन्द और सुख की प्राप्ति सुनिश्चित होती है। यह अत्यन्त खेद का प्रसंग है कि आर्यावर्त वैदिक धर्म से दूर हट चुका है। पतन की उन गहराइयों में जाना उसके लिए सुनिश्चित ही था, जिसकी ओर वह बढ़ रहा था। उसने अपने सर्वनाश को स्वयं आमन्त्रित किया है, जो उसका प्राप्य ही था। तथापि आर्यावर्त का विगत चाहे कितना ही निराशाजनक क्यों न हो, उसका भविष्य तो आशापूर्ण ही है। सत्य के वे शाश्वत प्रकाशक वेद आज पुनः प्रकट हो चुके हैं। उन्होंने अन्धविश्वास के बादलों को पूर्णतया छिन्न-भिन्न कर दिया है। पृथ्वीमण्डल पर छाया अनिष्टसूचक अन्धकार अब दूर हो रहा है, और मानवता पहले से अधिक देदीप्यमान हो रही है। यह सुखद स्थिति स्वामी दयानन्द के प्रयत्नों द्वारा लाई गई है। हमें पुरातन ऋषियों के प्रकाश में ले जाने का श्रेय उन्हें ही है। तथापि यह तो कहना ही होगा कि ऋषियों के ज्ञान के इस प्रकाश को कई लोगों ने देखा और उसकी प्रशंसा भी की, किन्तु लोगों के बहुमत ने, जो अज्ञान के अन्धकार में रहने के आदी हो गये थे, या तो उसकी उपयोगिता में सन्देह प्रकट किया अथवा दुराग्रहवश उससे प्रेरणा लेने से इन्कार कर दिया। अब तो यह उन लोगों का, जो अन्धविश्वास के आवरण से आच्छादित नहीं थे, कर्तव्य था बल्कि इसे अत्यावश्यक कर्तव्य कहना चाहिए कि वे लोग संशयशील लोगों के संशय को दूर करते तथा दुराग्रही एवं कट्टरपन्थियों की हठधर्मिता और संकीर्णता का निवारण करते। यह काम तभी किया जा सकता है यदि हम उन संस्थानों की सहायता करें, जहाँ आकर हमारी भावी पीढ़ियों को इस लक्ष्य की ओर आगे बढ़ने के लिए धीरे-धीरे तैयार किया जाता है। व्याख्यानदाता ने किसी विशिष्ट शिक्षण-संस्था का नाम नहीं लिया, किन्तु श्रोता समझ गये कि उन्हें किस संस्था की सहायता करनी है। कोलाहलयुक्त हर्षध्वनि के बीच वक्ता ने अपना व्याख्यान समाप्त किया। डी० ए० बी० कालेज निधि के लिए उदारतापूर्वक धन देकर लोगों ने उनके व्याख्यान के प्रति अपना प्रशंसा-भाव व्यक्त किया। कुल १४००० रुपये का चन्दा आया जिसमें ४००० रुपये

नकद प्राप्त हुए। अवशिष्ट १०००० की रकम में से ६ हजार की राशि डी० ए० बी० कालेज तथा स्कूल के भवन बनाने में खर्च करने का निश्चय हुआ और एक हजार की बची हुई रकम कालेज फण्ड में दी गई। पौन बजे तक यह सारा कार्य समाप्त हो गया और लोग मध्याह्न भोजन करने के लिए विदा हुए।”

“८ बजे पं० गुरुदत्त विद्यार्थी का अंग्रेजी भाषण सुनने के लिए जनता पुनः एकत्र हुई। उन्होंने कहा कि आधुनिक विज्ञान और विशेषतः रसायन-शास्त्र को दोषपूर्ण कहा जा सकता है क्योंकि सत्य विज्ञान की कसौटी पर उसे हम खरा नहीं पाते। आज यह विज्ञान जिन पद्धतियों का सहारा लेकर चलता है, वे उन प्रणालियों से भिन्न हैं जो पुरातन लोगों द्वारा प्रयुक्त होती थीं। जब प्राचीन वैज्ञानिकों की इन प्रणालियों की हम विशुद्ध तर्क की कसौटी पर परीक्षा करते हैं तो पता चलता है कि विज्ञान का ठोस ढाँचा इसी आधार पर खड़ा किया जा सकता है। विज्ञान की पुरातन प्रणालियाँ सरल सुनिश्चित तथा निश्चिन्त होती थीं, इसीलिए प्राचीनों द्वारा किये गये अन्वेषण तथा उन पर आधारित निष्कर्ष शंकाओं से परे होते थे।”

“अपने कथन को सिद्ध करने के लिए वक्ता ने लगभग बीस लाख वर्ष पूर्व लिखे गए एक ग्रन्थ ‘सूर्य सिद्धान्त’ की चर्चा की और बताया कि सृष्टि उत्पत्ति जैसे प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर इस पुस्तक के पृष्ठों में मिल जाता है जबकि आज का विज्ञान इसका कोई तर्कपूर्ण समाधान नहीं दे सका है। इस ग्रन्थ के लेखक ने बहुत स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि वह जो-कुछ लिखने जा रहा है, उसे उसने ऋषियों और मुनियों से ही सीखा है तथा इन आप्त लोगों ने यह ज्ञान वेदों से प्राप्त किया है। वेदों को समस्त विज्ञानों का मूलस्रोत ठहराना अकेले लेख की ही धारणा नहीं है किन्तु इसे भूतकाल के प्रायः सभी जाने माने वैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है। किन्तु क्या यही बात बाइबिल के लिए भी कही जा सकती है जिसके सिद्धान्त या तो परस्पर विरुद्ध हैं या विज्ञान के विरोधी हैं। वह दिन दूर नहीं, जब मानव मन में वेद की पुनः प्रतिष्ठा होगी तथा ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में वे मनुष्य का मार्ग निर्देशन करेंगे। साथ ही वह दिन भी आयेगा जब बाइबिल जैसे ग्रन्थ लोगों को पूर्वाग्रही और अन्धविश्वासी नहीं बना सकेंगे। इस व्याख्यान में वक्ता ने आधुनिक काल के कुछ

विख्यात तथा पूर्वाग्रहरहित वैज्ञानिकों के बन्धनों की प्रचुरता से उद्धृत किया। इससे यह सिद्ध हो गया कि वह व्यर्थ की डींगें नहीं हाँक रहा था। विद्वान् पण्डित ने अमेरिका के एक विख्यात लेखक की पुस्तक^{४३} से एक अवतरण पढ़कर अपने वक्तव्य को समाप्त किया जिसमें कहा है कि उस प्रसिद्ध सुधारक स्वामी दयानन्द ने वेदविद्या रूपी जिस अग्नि को प्रज्वलित किया है, उसमें संसार के सारे अन्ध-विश्वास और उन्हें सिखाने वाली पुस्तकें जलकर भस्म हो जायेंगी। इस विद्वान् वक्ता के व्याख्यान समाप्त करने पर कानों के पदों को फाड़ देने वाली तालियों की गड़गड़ाहट से उसका अभिनन्दन किया गया। इसके पश्चात् सभा अगले कार्यक्रम तक के लिए स्थगित हो गई।”

इनमें से एक व्याख्यान को सुनने का अवसर मुझे भी मिला था। वह व्याख्यान हिन्दी में था और आधुनिक भारत के बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी^{४४} तथा बाबू प्रतापचन्द्र मजूमदार^{४५} जैसे कुछ श्रेष्ठ वक्ताओं के भाषण सुनने के पश्चात् हम विश्वास तथा सचाई के साथ कह सकते हैं कि समय आने पर पं० गुरुदत्त व्याख्यान कला में इन सबसे बाजी मार लेंगे। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि पं० गुरुदत्त अपने व्याख्यानों में सामान्य दृष्टान्त ही नहीं देते अपितु वे प्राचीन संस्कृत लेखकों की रचनाओं से जैसे प्रभूत उद्धरण देते हैं, वैसे आपको अन्य महानुभावों के व्याख्यानों में कहीं नहीं मिलेंगे। ये वक्ता अपने व्याख्यानों में प्राचीन ख्यातनामा लोगों के नामों का उल्लेख करते हैं, यत्र-तत्र कुछ उद्धरण देते हैं तथा प्राचीनकाल की महत्ता और गरिमा का विदग्धतापूर्वक वर्णन भी करते हैं। किन्तु उनके व्याख्यानों में उस पुरातन महत्ता को प्रमाणित करने के लिए हेतु और साक्षियों का अभाव होता है, इसलिए उनके द्वारा की जाने वाली ऊँची और परिष्कृत अपीलें भी कर्णोत्पादक नहीं होतीं। हाँ, यह सत्य है कि ये वक्ता अपने श्रोताओं के मनों पर स्थायी प्रभाव डालने में असमर्थ होते हैं, यह दूसरी बात है कि पतंजलि तथा वेदव्यास जैसे ऋषियों का मात्र नामोल्लेख उनमें क्षणिक उत्तेजना भले ही उत्पन्न कर दे। राष्ट्रवासियों के हृदय पर उस उत्तेजना को स्थायी रूप से अंकित करने का कार्य तो पं० गुरुदत्त की कोटि के व्यक्ति ही कर सकते हैं, जिनके व्याख्यान अंग्रेजी लेखक सेमुअल स्माइल या शेक्सपियर के

उद्धरणों से भरे घिसे-पिटे भाषणों से भिन्न होते हैं ।

यह वही भाषण था जिसे सुनकर हजारों सिख मित्रों ने अनावश्यक रूप से क्रोध का अनुभव किया था ।^{१६} मैं पूरी ईमानदारी के साथ कहना चाहता हूँ कि वक्ता का अभिप्राय हमारे मित्रों को चोट पहुँचाना हरगिज नहीं था । वे उन पवित्र तथा उच्च भक्तों (गुरुओं) के चरित्रों पर भी कोई कटाक्ष करना नहीं चाहते थे जो न केवल पंजाब अपितु समस्त भारत के लिए गौरव रूप हैं । स्वामी दयानन्द के जीवन एवं कार्यों में विद्यमान सत्य निष्ठा के प्रति अत्युच्च तथा निर्भीक भाव को अभिव्यक्त करने के प्रसंग में निश्चय ही वे अपने प्रसंग से थोड़े हट गये थे । उन्होंने तो यही कहा था कि स्वामी दयानन्द अपने विचारों में निहित सत्य को प्रचारित करने में इतने साहसी तथा निडर थे कि अपने उपदेश कार्य में आने वाली अप्रीतिकर परिस्थितियों से उन्होंने कभी घबराहट महसूस नहीं की । उन्होंने उस विषय पर वास्तव में क्या कहा था, सम्भव है मुझे भी उसका ठीक ज्ञान न हो, किन्तु मैं शपथपूर्वक कह सकता हूँ कि उनके व्याख्यान के समाप्त हो जाने के पश्चात् ही मैंने इस विषय पर कुछ सिख सज्जनों को आर्यसमाजियों से झगड़ते हुए देखा था । इसी से मुझे पता चला कि वक्ता के कथन का इन लोगों ने क्या अभिप्राय ग्रहण किया है । यहाँ यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि अपने मातृकुल की दृष्टि से मैं भी सिख बनिया हूँ^{१७} और बहुत समय बीत जाने पर भी मुझे भली भाँति याद है कि मेरी नानी और मेरे मामा की सिख ग्रन्थों तथा सिख गुरुओं के प्रति कैसी भक्ति थी । अतः मैं इस बात को भी गर्वपूर्वक कह सकता हूँ कि मेरी धमनियों में उसी रक्त का संचार हो रहा है, जिसने महाराजा रणजीतसिंह तथा उनके पूर्वजों के युग के अजेय सिख वीरों को जन्म दिया था ।

भारतीय इतिहास के घोर अन्धकारयुक्त समय में जिन सिख गुरुओं ने धर्म रक्षा के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर किया, उनके प्रति एक सिख जैसा आदर और भक्ति भाव रखता है, मेरा भी उनके प्रति उतना ही सम्मान और श्रद्धा का भाव है । इसलिए यह कहना तो अविश्वसनीय ही है कि मैंने पं० गुरुदत्त के कथन के अभिप्राय को ठीक नहीं समझा । यदि मैं भी उसका विपरीत अर्थ लेता तो मेरे हृदय में भी वैसा ही रोष, अथवा सही रूप में कहूँ तो करुणा का भाव

उत्पन्न होता जैसा कि मेरे सिख भाइयों के हृदयों में हुआ। आय्यों और सिखों का वह विरोध बहुत बढ़ा और इसके नतीजे में दो अत्यन्त घृणास्पद पुस्तकें भी छपीं। वस्तुतः इन्हें छपने नहीं दिया जाना चाहिए था क्योंकि इनमें भारत माता के दो अत्यन्त विख्यात पुत्रों को अत्यन्त निन्दास्पद रूप में चित्रित किया गया है। मैं आशा करता हूँ कि मेरे सिख भाई, जिनमें से कुछ तो आर्यसमाज के प्रति किसी समय बहुत उत्साह रखते थे,^{५८} अब पं० गुरुदत्त की मृत्यु के पश्चात् इस विवाद को समाप्त कर देंगे क्योंकि मेरे विचार से जिस व्यक्ति के शब्दों के वास्तविक अभिप्राय को न समझने के कारण यह दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन हुआ था, वह स्वयं ही अब संसार से जा चुका है। मेरे विचार से तो आर्य और सिख एक ही नौका पर सवार हैं और उन्हें अपनी सम्मिलित उत्साहभावना से इस नाव को पार करने के लिए समान उद्योग करना चाहिए। इन दोनों के पूर्वज एक ही थे, ये एक ही सत्य की प्राप्ति के लिए संघर्षरत हैं, इनके प्रेरणा-स्रोत भी एक ही हैं और उन पर ये गर्व भी करते हैं। अतः अच्छा तो यही है कि हिन्दू और सिख अपने पारस्परिक झगड़ों और एक-दूसरे की त्रुटियों को भुला दें तथा अपने समान लक्ष्य को ध्यान में रखें और एक-दूसरे की सफलता में खुद को भी गौरवान्वित अनुभव करें। ऐसा करके ही हम अज्ञान, पीड़ा तथा अभाव से मुक्त हो सकेंगे तथा मिथ्या अहंकार एवं साम्प्रदायिक असहिष्णुता से छुटकारा पाकर अन्ततः अकाल पुरुष के भव्य मन्दिर में प्रवेश कर सकेंगे। मेरे आर्य तथा सिख भाइयो, हमें उक्त शब्दों की अपने हृदय पटल पर अंकित कर लेना चाहिए क्योंकि यदि हम असंगठित और विभाजित रहेंगे तो मानव जाति के महासागर में हमारा अस्तित्व एक बिन्दु के बराबर भी नहीं रहेगा और हम कोई सार्थक कार्य नहीं कर पाएँगे।

पाठक इस विषयान्तर के लिए मुझे क्षमा करें। मुझे सिखों और आय्यों से उपर्युक्त अपील इसीलिए करनी पड़ी क्योंकि इसका मूल विषय से सम्बन्ध है। अब मैं १८८८ में पं० गुरुदत्त के जीवन की अन्य घटनाओं का उल्लेख करूँगा। इस वर्ष की समाप्ति जालंधर में उनके एक भाषण से हुई, जो अंग्रेजी में दिया गया था। व्याख्यान का विषय था—‘संसार का भावी धर्म’, जिसमें लेखक ने सिद्ध किया था कि वैदिक धर्म ही संसार का भावी धर्म बनेगा। इस वर्ष को इसलिए

भी याद किया जाएगा क्योंकि इसी साल में पं० गुरुदत्त ने कुछ संन्यासियों को अपने सम्पर्क में लाकर आर्यसमाज का उपदेशक बना दिया। किन्तु इनमें से एक कतिपय सैद्धान्तिक मतभेदों के कारण आर्यसमाज से पृथक् हो चुके हैं।

इनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण मत परिवर्तन स्वामी अच्युतानन्द^{४६} का था, जो वेदान्त के महान् आचार्य थे। ये महानुभाव उच्च कोटि के विद्वान् हैं जिन्होंने उपनिषदों का गम्भीर अध्ययन किया है। यह वेदान्तविद् साधुओं की एक मण्डली के गुरु थे तथा इनके शिष्यों में अनेक प्रतिष्ठित, प्रभावशाली तथा सुपठित लोगों की गणना होती थी। स्वामी प्रकाशानन्द ने भी कुछ समय पूर्व आर्य सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया था और उन्होंने ही पं० गुरुदत्त तथा स्वामी अच्युतानन्द की भेंट करवाई थी। पं० गुरुदत्त उनके साथ बैठकर उन प्रामाणिक उपनिषदों का अध्ययन करने लगे जिनके बारे में यह प्रसिद्ध है कि इन्हीं ग्रन्थों में नवीन वेदान्त का मूल स्रोत निहित है। अन्ततः सत्य की विजय हुई और स्वामी अच्युतानन्द ने आर्यसमाज के कार्य को बढ़ाने के लिए स्वयं को वैदिक धर्म का प्रचारक घोषित किया, जिससे आर्य जनता को अत्यन्त आनन्द हुआ। उस दिन से यह विद्वान् संन्यासी निरन्तर आर्यशास्त्रों के प्रचार में संलग्न है। स्वामी महानन्द^{४७} एक और संन्यासी थे, जो पं० गुरुदत्त से भेंट करने के पश्चात् आर्यसमाजी बने। ये महानुभाव संस्कृत के अद्वितीय विद्वान् हैं अतः उन पर आर्यसमाज को गर्व होना स्वाभाविक ही है।

स्वामी स्वात्मानन्द सरस्वती^{४८} एक अन्य सच्चे और ध्येयनिष्ठ संन्यासी थे जो पं० गुरुदत्त के पाण्डित्य के प्रति अत्यन्त ऋणी रहे। वे वर्षों तक पण्डितजी के साथ रहकर उनसे पश्चिमी विज्ञान का अध्ययन करते रहे। उन्होंने गुरुदत्त से रसायनशास्त्र का अध्ययन किया और एतद्विषयक अनेक प्रयोग भी किये। जो स्वामी स्वात्मानन्दजी को पहले से जानते थे, उनका कहना है कि पं० गुरुदत्त के सान्निध्य ने उनके विचारों तथा विश्वासों में ठोस परिवर्तन किया था, जिससे उन्हें पर्याप्त लाभ हुआ और पण्डितजी के निकट रहने से उनकी संस्कृत की योग्यता भी बढ़ी। परिणाम यह निकला कि स्वामीजी ने आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब को अपनी सेवाएँ सौंपी और वे लगभग एक वर्ष तक सभा के मनोनीत उपदेशक रहे। इस काल में उन्होंने

व्याख्यान दिए। उन्हें जिन लोगों ने सुना है, वे बताते हैं कि स्वामी स्वात्मानन्दजी के भाषण विद्वत्तापूर्ण, तर्कयुक्त तथा विषय के सुबोध प्रतिपादन से युक्त होते थे। यह खेद की बात है कि ये विनम्र प्रचारक झूठे सन्देहवाद में फँसकर आर्यसमाज से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर बैठे। उनके मन में ये सन्देहास्पद विचार उसी समय उत्पन्न हुए जब पं० गुरुदत्त बोमार थे और उनके चिकित्सकों के आदेशानुसार उनसे कोई व्यक्ति न तो बात ही कर सकता था और न किसी को उनसे पत्र-व्यवहार करने की ही आज्ञा थी। अतः इसे दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि इस विद्वान् संन्यासी को पं० गुरुदत्त की उच्च योग्यता और विद्वत्ता की सहायता से अपने सन्देहों का निवारण करने का अवसर नहीं मिला। सम्भवतः जनवरी १८८६ में उन्होंने आर्यसमाज से अपने-आपको पृथक् कर लिया।

मुझे एक विश्वसनीय व्यक्ति ने बताया कि इस वर्ष कई दिनों तक चारों^{२२} सम्माननीय संन्यासी पं० गुरुदत्त के साथ रहकर धर्म के नानाविध पहलुओं पर चर्चा करते रहे। इससे लगता था मानो पं० गुरुदत्त का घर कोई आश्रम ही है और अनेक लोगों ने तो उसे आश्रम की ही भाँति पवित्र माना। कई लोग सत्य की जिज्ञासा लेकर उनके घर जाते थे तथा वैदिक धर्म की विद्याओं से अपने मस्तिष्क को आपूरित कर लौटते। जीवन के गूढ़ प्रश्नों का समाधान तलाशने, क्या गृहस्थ और क्या संन्यासी, उनके निकट जाते और ज्ञान के उस दिव्य प्रकाश पुंज से स्वयं भी कुछ ज्ञान-रश्मियाँ ग्रहण करते। आर्य-समाज के कार्य के लिए स्वयं की सेवाओं को अर्पित करते हुए भी उन्होंने अपने बौद्धिक और आत्मिक विकास के मार्ग को अवरुद्ध नहीं किया था। अनेक शास्त्र, जिनका नामोल्लेख करना भी अशक्य है, तो उन्होंने पढ़े ही, साथ ही दस प्रमुख उपनिषद्, ऐतरेय तथा गोपथ ब्राह्मण, निरुक्त के कुछ अंश, चरक (आयुर्वेद का ग्रन्थ) तथा सूर्य-सिद्धान्त जैसे ग्रन्थों का उन्होंने स्वाध्याय कर डाला। स्वामी दयानन्द रचित वेदांग-प्रकाश की सहायता से उन्होंने पतंजलि-कृत महाभाष्य का खुद ही अध्ययन किया। स्वामी दयानन्द के ग्रन्थ तो उनकी रुचि के थे ही। सत्यार्थप्रकाश और मुख्यतः उसमें वर्णित मुक्ति के प्रसंग को उन्होंने कम-से-कम बारह बार^{२३} पढ़ा था। जितना अधिक वे इस ग्रन्थ को पढ़ते, उतनी ही अधिक उनकी श्रद्धा इस ग्रन्थ के ख्यातनामा

लेखक के प्रति बढ़ती जाती। स्वामी दयानन्द की प्रतिभा के प्रति उनका सम्मान और श्रद्धा बढ़ती गई और १८८६ के मध्य तक यह अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। यद्यपि वे अपने कार्यों में बहुत व्यस्त रहते थे किन्तु जो कोई उनसे कुछ पूछने या पढ़ने आता तो वे उसे इन्कार नहीं करते। एक जीवनी-लेखक के रूप में मैं अपने कर्त्तव्य से विमुख हो जाऊँगा यदि मैं उस अमेरिकन सन्त^{४५} की रचनाओं का उल्लेख न करूँ जिन्होंने उनकी पर्याप्त सहायता की थी तथा स्वजीवन के निर्माण की रूपरेखा बनाने में सहायक हुई थीं। अपने जीवन के अन्तिम दो वर्षों में उन्होंने उसके ग्रन्थों का सतत अध्ययन किया तथा उस सन्त की यौगिक शक्तियों में भी पूर्ण आस्था प्रकट की। उन्होंने इन पुस्तकों को पढ़ने की सिफारिश अपने मित्रों से भी की, किन्तु इसके लिए उन्होंने ऐसों को ही चुना जो इन्हें भली-भाँति समझ सकते थे तथा लेखक का उपहास न करें।

इस वर्ष उनकी निम्न पुस्तकें छपीं जिनकी विस्तृत चर्चा आगे की गई है।

१. वैदिक संज्ञा विज्ञान।
२. ईशोपनिषद् की अंग्रेजी व्याख्या।
३. वैदिक टैक्स्ट भाग १, २, ३।

इस वर्ष पहली सितम्बर को वे लाहौर से वजीराबाद गये। यहाँ से उन्हें व्होनी साहब (किलाघर) नामक स्थान पर जाकर एक संस्कृत पुस्तकालय को देखना था। यह तो ज्ञात नहीं हुआ कि वे उक्त स्थान पर गये भी या वजीराबाद से ही लौट आए। यह भी पता नहीं चलता कि यदि वे अपने लक्ष्य स्थान तक पहुँचे भी, तो क्या उक्त पुस्तकालय को देख सके थे और उन्हें मनोनुकूल ग्रन्थ भी मिले थे।

पूरे वर्ष तक उनका स्वास्थ्य उन्हें दुखी करता रहा। वे अपनी डायरी में इस प्रकार लिखते हैं—

१२ जनवरी—बहुत दुःख है कि खून की दस्तें होती रहीं।

१४ जनवरी—खून मलमार्ग से निकला।

२२ जनवरी—बहुत बीमार रहा।

१ फरवरी—मेरी रुग्णता का आरम्भ। (शायद यह वाक्य उन्होंने अपने अन्तर्ज्ञान से ही लिखा था)।

१२ फरवरी—बहुत बीमार हूँ। रक्त निकला, बहुत कमजोरी

रहती है ।

मार्च—प्रायः कोष्ठबद्धता रहती है ।

८ मई को वे फिर बीमार हुए किन्तु उनकी डायरी में इस बारे में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता ।

१६ मई को भयंकर मतली की शिकायत रही । नाक से खून की दो-तीन बूंदें भी निकलीं । उस दिन की डायरी में वे लिखते हैं “मुझे आर्यसमाज में व्याख्यान देना है जिसका विषय है—लोग क्या कहेंगे ? किन्तु इतने महत्वपूर्ण विषय पर बोलने के लिए मेरी तैयारी ही नहीं है ।” स्वास्थ्य के प्रति उनके इस उपेक्षापूर्ण रवैये ने उनके स्वस्थ शरीर को नष्ट कर दिया ।

१ अक्टूबर—मल द्वारा से बहुत खून गिरा ।

२ अक्टूबर—मतली की शिकायत रही ।

ये तथ्य तो अनियमित रूप से ही लिखे मिलते हैं क्योंकि उनकी डायरियाँ भी क्रमवद्ध नहीं हैं और १८८६ के कुछ दिनों को छोड़कर ३ अक्टूबर १८८८ के बाद की घटनाएँ तो लिखी ही नहीं गईं ।

वर्ष १८८६ का विवरण समाप्त करने से पूर्व मैं यह लिख दूँ कि इसी वर्ष में आर्यसमाज में विभाजन हुआ जिसके प्रधानतया दो कारण थे (१) उपदेशक कक्षा तथा डी० ए० वी० कालेज की शिक्षा प्रणाली, (२) मांस भक्षण । सत्यार्थप्रकाश के चौथे समुल्लास में उल्लिखित नियोग के विषय पर ईसाइयों ने विवाद खड़ा किया और इस प्रथा पर आक्षेप किये । मैं अगले अध्याय में इन्हीं तीनों विषयों की चर्चा करूँगा, क्योंकि इस जीवनचरित के साथ वे सम्बद्ध हैं ।

अध्याय ७.

व्यवसाय का चयन

जहाँ तक इस जीवनचरित का सम्बन्ध है, इस अध्याय का विषय अत्यन्त नाजुक ही माना जायगा तथापि इसका महत्त्व तो निर्विवाद ही है, क्योंकि जो लोग देश-भक्ति का मार्ग चुनते हैं, उन्हें अपने व्यवसाय के चयन को लेकर बहुत प्रेशानी महसूस होती है। हम यह जानते हैं कि अनेक ऐसी पुण्य आत्माएँ हैं, जिन पर यदि खुद अपने तथा अपने ऊपर आश्रितों के पेट पालन की जिम्मेवारी न हो तो वे अपने आपको पूर्णतया देशहित के लिए समर्पित करने के लिए तैयार रहती हैं। हम एक ऐसी व्यवस्था में रह रहे हैं जहाँ पूर्ण वयस्क होने के पहले ही हमारे ऊपर अपने पूरे परिवार के पालन का बोझ डाल दिया जाता है। इस कारण अनेक उच्च भावनायुक्त उन लोगों के मार्ग में दुर्लभ बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं, जो अपने देश तथा परमात्मा की सेवा में अपना समग्र जीवन समर्पित कर देने के इच्छुक होते हैं। अनेक उत्साही और तेजस्वी पुरुषों ने घरेलू परिस्थितियों और पारिवारिक समस्याओं के आगे समर्पण किया है।

इस पतनशील युग में भी ऐसे उदाहरण कम नहीं हैं जहाँ सच्चे आर्य पुरुषों ने अपनी सुदृढ़ संकल्पशक्ति के बल पर इन परिस्थितियों और समस्याओं पर विजय पाई है। उन्होंने कर्तव्य की पुकार को सुना है और परिवार पालन की अपेक्षा देश के प्रति कर्तव्य पालन को वरीयता प्रदान की है। ऐसे लोगों को अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए बहुत कठिन संघर्ष करने पड़े हैं और उनके संघर्षों की यह कथा अंकित किये जाने योग्य है, क्योंकि यह संघर्ष-कथा उन लोगों के लिए पथदीप का काम करती है जो सफलता की सभी आकांक्षाएँ छोड़ बैठे हैं। जिस देश को अपने भविष्य की चिन्ता है वहाँ के लोगों के लिए तो यह आवश्यक ही है कि वे मानवता की सेवा के लिए संघर्ष करने वाले ऐसे लोगों की कथाओं को सुरक्षित कर लें। मेरे उपर्युक्त कथन का यह अर्थ नहीं है कि संसार में ऐसे लोगों की कमी

है, जिन्होंने अपने देश तथा स्वयं अपने और अपने परिवार के प्रति सम्मान भाव से कर्तव्य पालन करने में कोई कोताही की हो। इसके विपरीत आप स्व० लाला साईदास का उदाहरण ले सकते हैं, जो दिन में पाँच घण्टे अपने परिवार के लिए काम करते थे और दिन का बचा समय देश-सेवा में लगाते थे।^{५५} मेरे कथन का अर्थ तो इतना ही है कि परिवार के प्रति यह अवधानता का भाव कभी-कभी अभिशाप तथा बाधा बनकर आता है, विशेषतः उन लोगों के मार्ग में, जिन्होंने जन्म से ही देश-सेवा या समाज-सुधार का व्रत लिया है अथवा जो लोकहित की भावना से प्रेरित होते हैं। अतः यही कहना होगा कि जो लोग सतत संघर्ष करते हुए इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते हैं, उनका जीवन वृत्तान्त उनके हमराही साथियों के लिए बहुत मूल्यवान सिद्ध होता है।

इन पंक्तियों का लेखक पण्डितजी का प्रारम्भिक सहपाठी तथा उनका प्रशंसक रहा है इसलिए उसे उनसे परस्पर हित के प्रसंगों पर बहुत बार बातचीत करने के अवसर मिले हैं। जीविका के प्रश्न पर उन्होंने वर्षों तक विचार किया किन्तु कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं निकला। वे चाहते थे कि जीविकोपार्जन का कोई ऐसा रास्ता मिले, जो उनकी अन्तरात्मा के प्रतिकूल न हो, उनकी इच्छाओं का दमन न करे, ईश्वर तथा देश की सेवा के लिए उत्पन्न उनकी महत्वाकांक्षाओं को भी नष्ट न करे तथा साथ ही ऐसा भी हो, जिसे स्वीकार कर वे स्वयं अपने परिवार सहित शालीनतायुक्त आराम की जिन्दगी बिता सकें। पं० गुरुदत्त का विगत इतिहास बताता है कि उनके माता-पिता धनी नहीं थे। ६० रुपये मासिक का सरकारी वेतन पाने वाले उनके पिता ने अपने उस पुत्र के लिए धन जोड़कर नहीं रक्खा था, जो खद धन सम्पत्ति के मामले में हृद से ज्यादा लापरवाह था, बल्कि उसके माता-पिता को ही यह चिन्ता रहती थी कि वे अपने पुत्र के लिए अधिकतम सुविधाएँ जुटा सकें। किताबों का उनका खर्च ही इतना बढ़ा-चढ़ा था, जिसे देखकर हर कोई आश्चर्य करता कि इतनी कीमती पुस्तकें खरीदने के लिए वह धन कहाँ से जुटाते हैं। अतः यह स्वाभाविक ही था कि अनेक बार पं० गुरुदत्त की आर्थिक कठिनाई उन्हें पीड़ा पहुँचाती और वे प्रायः किसी ऐसे काम की तलाश में रहते, जो उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने के

साथ-साथ उनकी प्रकृति तथा भावनाप्रवण अन्तरात्मा के भी अनुकूल हो। उनके समक्ष एक के बाद एक कई विचार आये। कानून, चिकित्सा, इंजीनियरी, न्याय विभाग की नौकरी तथा अन्य सरकारी सेवाओं में जाने का मन बना, किन्तु उपर्युक्त में से कोई भी उन्हें अपने अनुकूल प्रतीत नहीं हुई और एक-एक कर सबके बारे में उन्होंने निषेधात्मक रुख बना लिया। मुझे क्या करना चाहिए, यह विचार उनके मन में कितनी ही बार आया और उतनी ही बार अत्यन्त निर्ममतापूर्वक उन्होंने इसे किसी अनुकूल भावी क्षण के लिए टाल दिया। उनकी डायरी के निम्नांकित उद्धरण पाठकों को इस बात की अस्पष्ट झलक ही दिखायेंगे कि किस प्रकार पण्डित जी जीविका के प्रश्न को लेकर आन्दोलित रहते थे। वे प्रायः किसी ऐसे समाधान पर पहुँचने के लिए निरन्तर यत्नशील थे कि किस प्रकार पूर्ण ईमानदारी, कर्त्तव्य-निष्ठा, सामंजस्य तथा आस्था के साथ वे ईश्वर, स्वदेश, अपने परिवार तथा खुद की भलीभाँति सेवा कर सकें। इन उद्धरणों का मेरी मौखिक साक्षी तथा मेरे नाम लिखे उनके कुछ पत्र अनुमोदन करते हैं।

उनकी डायरी के उद्धरण—

२४ अप्रैल १८८५ एक क्रान्ति। क्यों नहीं सारी भावनाओं और आसक्तियों को दूर फेंककर मिल और दयानन्द के साथ तादात्म्य स्थापित किया जाय। अथवा क्या सांसारिक प्रेम अपना प्रभाव दिखायेगा?

१० दिसम्बर, १८८५... कहते हैं कि हिन्दू साहित्य को आज पथ-प्रदर्शकों की आवश्यकता है और हम चौंसर^५ का स्थान ले सकते हैं।

५ जनवरी—१८८६—बातचीत के प्रसंग में मीर... कहते हैं— जो कुछ परीक्षण मैं करता हूँ यदि उन्हें लिख डालूँ तो मेरा नाम हो सकता है। नोट्स न लिखना कितनी दुर्बलता है। मैं अपने व्यावसायिक कर्त्तव्य कल से आरम्भ कर दूँगा।

८ जनवरी—डा०... कहते हैं कि योग्य आदमी को तो नौकरी मिल ही जाती है यदि वह अवसर आने तक प्रतीक्षा करे। वे यह भी कहते हैं कि जीवन में अव्यवस्थित रहना अनुचित है।

६ जनवरी—डा० ओमन ने मुझे पूछा है कि क्या मैं कालेज में प्रवक्ता बनने के लिए तैयार हूँ ।

२ फरवरी—आज पुनः वही पुराना सवाल बहुत स्पष्ट होकर मेरे सामने आया है—तुम्हें अपनी सब कामनाओं को मारकर जीवित रहना है ।

२४ फरवरी—मैंने निदेशक को नौकरी के लिए अर्जी भेजी है ।

६ जून—ऐसा लगता है कि विपत्ति का समय आ रहा है । मेरे पिता मुझसे मिलना चाहते हैं । मेरी नौकरी के बारे में अभी कुछ निश्चित नहीं है । बी० डी० मुझे पिता से मिलने के लिए कहते हैं । मैं उन्हें १०० रुपये देना चाहता हूँ, यह कहाँ से लाऊँ ?

इन उद्धरणों की शृंखला को यहीं समाप्त कर मैं इसी काल में मुझे लिखे उनके पत्रों के कुछ अंश देना चाहता हूँ । इनमें मेरे द्वारा पूछे गये जीविका विषयक प्रश्न का ही उत्तर उन्होंने दिया था ।

लाहौर—१७ जनवरी १८८६ मेरा आशादीप झिलमिला रहा है । कभी उसकी लौ तेज हो जाती है तो कभी मध्यम । नहीं, नहीं, कोई राय बहादुर या खानबहादुर ईसिस की प्रतिमा पर पड़े आवरण को नहीं हटा पायेगा । जीवन की रामबाण औषधि की तलाश में क्या मृगमरीचिका वाले स्थल के रहस्य के इर्दगिर्द चक्कर लगाते ही रहना चाहिए ? मुझे कोई खास विषाद भी नहीं है और मैं खुश ही हूँ किन्तु मैं संघर्ष की स्थिति में अवश्य हूँ । यह संघर्ष तो भीतरी है जहाँ प्रत्येक वस्तु अस्पष्ट तथा धुंधली दिखाई देती है । अतः मेरे द्वारा दिखाई उपेक्षा का कोई भिन्न अर्थ मत लगाना और यही समझो कि बेचारा गुरुदत्त विद्यार्थी अपने मन से ही लड़ रहा है और इसी कारण वह दूसरों को उनके प्रेम का अंश नहीं दे पाता ।

सदा ही तुम्हारा,
गुरुदत्त विद्यार्थी

इस पत्र के तुरन्त बाद २४ जनवरी, १८८६ का लिखा एक अन्य पत्र मुझे मिला । इसके उद्धरण स्वयं ही अपनी कहानी कहेंगे । वे किसी टिप्पणी की अपेक्षा नहीं रखते ।

मेरे प्रिय लाजपतराय,

मुझे तुम्हारे कृपापूर्ण पत्र पाकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई । तुमने मेरे

प्रति जो आदर दिखाया है उसके लिए मैं तुम्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ हालांकि मैं स्वयं को उसका पात्र नहीं समझता । पंजाब का नेता बनने तथा ऊँचे अधिकार पर प्रतिष्ठित होने के केवल सपने ही देखे जा सकते हैं ।

मेरे प्रिय लाजपतराय, मैं जानता हूँ कि इस समय तक जो लोग व्यावसायिक क्षेत्र में प्रविष्ट हुए हैं उनमें बहुत कम सुरक्षित रूप से बाहर निकल सके हैं । मुझे पता है कि जब ये लोग विद्यार्थी ही थे, उन्होंने अपने देश के पुनर्निर्माण की अनेक योजनाएँ बनाई थीं किन्तु जब संसार की कठोर वास्तविकताओं से उनका पाला पड़ा, तो धन और अर्थ की आकांक्षा ने उन्हें बाँध लिया तथा उनकी आशाएँ धूलिसात हो गई ।

इस पत्र के तुरन्त पश्चात् मुझे उनका २४ जनवरी, १८८६ को लिखा पत्र मिला । इसके उद्धरण बिना किसी टिप्पणी के अपनी बात स्वयं कह देते हैं ।

प्रिय लाजपतराय,

मुझे तुम्हारा पत्र पाकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई । तुमने मेरे लिए जो प्रशंसा के शब्द लिखे हैं, उनके लिए तुम्हें धन्यवाद है, हालाँकि मैं उनका पात्र नहीं हूँ । पंजाब के सार्वजनिक जीवन का नेतृत्व सचमुच एक बहुत बड़ी आकांक्षा है, किन्तु इसे लेकर अब तक मैंने सपने ही देखे हैं ।

x

x

x

मेरे प्रिय लाजपतराय,

मैं जानता हूँ कि इस समय तक जो लोग किसी व्यावसायिक क्षेत्र में प्रविष्ट हुए हैं उनमें से बहुत कम सुरक्षित रूप से बाहर आ सके हैं । मुझे पता है कि जब ये लोग विद्यार्थी ही थे, तभी उन्होंने अपने देश के पुनर्जागरण की अनेक योजनाएँ बनाई थीं । किन्तु जब उन्हें संसार की कठोर वास्तविकताओं का सामना करना पड़ा तो धन के प्रलोभन ने उन्हें अपनी गिरफ्त में ले लिया । अन्ततः उनकी आशाएँ विलीन हो गई । उनकी व्यवसाय-विषयक प्रवृत्तियों ने उन्हें स्वदेश की उन्नति अथवा पतन के प्रति उपेक्षावान एवं निष्ठुर बनाया । यह खास तौर से उनके साथ हुआ जो कानून का अध्ययन करने के पश्चात् न्यायिक सेवा में गये । जिन लोगों ने चिकित्सा के व्यवसाय

को चुना, उनका भी यही हाल हुआ। यहाँ तक कि जो थोड़े-से लोग शिक्षा के व्यवसाय में गये वे भी इसी रंग में रँग गये। सम्भवतः कठिनाइयों का सामना करने की प्रवृत्ति को स्थिर रखना कठिन होता है। विद्यार्थी काल में तो हम ऐसा कर सकते हैं क्योंकि उस समय हम पर कोई व्यावसायिक जिम्मेदारी नहीं होती और जीवन हमारे लिए मखमली शय्या के तुल्य होता है। मुझे याद पड़ता है कि पी० आर० नामक एक विद्यार्थी हुआ करता था, जो प्रगतिशीलों में स्वयं को अत्यन्त प्रगतिशील तथा उत्साह वालों में खुद को अत्युत्साही मानता था।

उसने अपने जीवन का लक्ष्य बौद्धिक उन्नति तथा देश की सेवा को बनाया था। हालाँकि वह दूसरों की अपेक्षा कुछ अच्छा काम कर रहा है, किन्तु उसके जीवन की ज्योति बुझ-सी गई है। शायद वह एक राष्ट्रीय योगी बनकर अपने जीवन का अन्तिम समय व्यतीत करेगा। मैं एक अन्य को भी जानता हूँ जो प्रोमिथियस की भाँति स्वर्ग की आग चुरा लाया था। किन्तु अन्ततः वह भी संसार रूपी महासागर में डूबकर विलीन हो गया।

x

x

x

आर्यावर्त,

तेरे महान् सपूतों की नस्ल ही समाप्त हो गई है। प्रिय मित्र, ये मिसालें ही हमारे सामने हैं। इन्हें ही दिशासूचक चिह्न मानकर हमें संतोष करना है। क्या मुझे...या उसी की कोटि के किसी अन्य से सलाह लेकर काम करना चाहिए। नहीं, ऐसा करके मैं अपने को पाप और अपराध में डुबो दूँगा। शिव अभी कार्यक्षेत्र में नहीं आया है। उस गरीब से क्या उम्मीद की जाये। भाग्य ने उसे उस समय क्यों ठुकरा दिया जब उसे ईश्वरीय सहायता की सर्वाधिक आवश्यकता थी? तुम हरयाणा में कानून के व्यवसाय में उन्मत्त होकर अपने वाक् चातुर्य के करिश्मे दिखा रहे हो। मैं तुम्हारी निन्दा नहीं करता। मैं जानता हूँ कि परिस्थितियाँ तुमसे ऐसा करा रही हैं। परिस्थिति का दास कौन नहीं है? हे आत्मा, तू स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष तो करता है, किन्तु अभी तक बन्धन में ही है। तथापि कुछ आशा तो है। यदि निश्चय में दृढ़ता हो तो विपरीत परिस्थितियाँ भी कुछ नहीं कर सकतीं। आशा है कि इस अन्धकार में भी कोई-

न-कोई रास्ता अवश्य दिखाई पड़ेगा ।

तुम्हारा सदा प्रिय
गुरुदत्त विद्यार्थी

अब मैं उनकी डायरी की पुनः चर्चा करूँ ।

१६ जनवरी, १८८७—मुझे योग साधना करनी चाहिए और जीवन में उपदेशक बनना चाहिए ।

१ फरवरी—मुझे पता लगा है कि कालेज में प्रोफेसर के पद के लिए मेरे नाम की सिफारिश की गई है ।

६ फरवरी—मैं गया । उसने मुझे कहा कि जब कोई व्यक्ति धर्म के लिए खुद को समर्पित कर देता है तो उसे परीक्षा की घड़ियों में से नहीं गुजरना पड़ता, किन्तु इससे पहले तो ऐसा होता ही है ।

१२ फरवरी—मुझे विश्वविद्यालय की सिनेट ने कहा है कि क्या वह मेरा नाम अतिरिक्त सहायक आयुक्त^{२९} के पद के लिए होने वाली प्रतियोगिता परीक्षा के लिए प्रस्तावित कर सकती है । मुझे इसका क्या उत्तर देना चाहिए ?

गुरुदत्त विद्यार्थी के सिवाय दूसरा कौन होगा जो इस परिस्थिति में उत्तर देने में संकोच करेगा । एक ऐसी नौकरी जिसे पाकर आदमी को अपने ही देशवासियों पर शासन करने का अधिकार मिलता है, जिस पद को स्वीकार कर कोई व्यक्ति आराम और सुविधा की जिन्दगी बिता सके, ऐसा अवसर जो अनायास और अनचाहे ही आया हो, उसे स्वीकार करने में भला किसे संकोच होता ? किन्तु वाह रे गुरुदत्त ! तुमने इस प्रलोभन को भी ठोकर मार दी, और जीवन के वास्तविक ध्येय के समक्ष इसे कोई महत्त्व नहीं दिया । २६ मार्च, १८८७ अब मेरा कालेज से सम्बन्ध समाप्त हो गया है । २० अप्रैल, १८८७ इस मास की १२ तारीख से मैं ओमन की जगह काम करने लगा हूँ ।

१२ अक्टूबर, १८८७ को पं० गुरुदत्त को लाहौर के डिप्टी कमिश्नर का पत्र मिला जिसमें उन्हें कहा गया था कि पंजाब विश्व-विद्यालय की सिनेट ने अतिरिक्त-सहायक आयुक्त के पद के लिए होने वाली प्रतियोगिता परीक्षा में बैठने के लिए उनका नाम प्रस्तावित किया है, अतः वह इस सम्बन्ध में उससे मिले । भावी पीढ़ी के पाठक जो मेरी इन पंक्तियों को पढ़ेंगे, वे इससे यह निष्कर्ष

न निकालें कि जिस परीक्षा का यहाँ उल्लेख हुआ है वह कोई ऐसी सार्वजनिक परीक्षा थी जिसमें हर कोई शामिल हो सकता था। इसे प्रतियोगी परीक्षा एक सीमित अर्थ में ही कहा जा सकता था। कुछ उच्च अधिकारी या पंजाब विश्वविद्यालय की सिनेट के सदस्य जिस व्यक्ति के नाम की सिफारिश करते और पंजाब सरकार यदि उस नाम को स्वीकार कर लेती तो उसे इस पद के लिए प्रतियोगी बनने का अवसर दिया जाता, जिसका प्रारम्भिक वेतन २५० रुपये था, जो अन्ततः ८०० तक पहुँचता। इस परीक्षा में या तो उच्च परिवारों के लड़के बैठ पाते या उन लोगों के, जो ऊँचे सरकारी पदों पर कार्य कर चुकते थे। अन्यथा इस तथाकथित प्रतियोगी परीक्षा में वास्तविक योग्यता का परीक्षार्थी तो शायद ही कभी सम्मिलित हो पाता था। इसलिए इस परीक्षा में प्रविष्ट होना ही सौभाग्यशाली होने का चिह्न था। पण्डित जी ने डिप्टी-कमिशनर से मुलाकात की। इसका विवरण उनकी डायरी में इस प्रकार है :

१५ जून, १८८७—मैं उनके निमन्त्रण के अनुसार मिलने गया। निश्चय ही परमात्मा प्रदत्त स्वभाव और नियम का उल्लंघन तब तक नहीं कर सकता जब तक वह स्वयं या संसार को पीड़ा पहुँचाने के लिए तैयार नहीं हो जाये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर तो उदार विचारों के अधिकारी उनके नाम की सिफारिश उस परीक्षा के लिए कर रहे थे जो सरकार में सर्वोच्च पद प्राप्त कराने में सहायक बनती, उधर जिस व्यक्ति की सिफारिश की जा रही थी, वह कुछ और प्रकार के भावों को अनुभव कर रहा था। वास्तव में अतिरिक्त सहायक-आयुक्त से ऊँचा पद तो उस समय भारतवासियों को शायद ही दिया जाता था, अतः इस देश के लोग तो यही समझ बैठे थे कि ये उच्च पद सम्भवतः उनके लिए बने ही नहीं हैं। इधर पं० गुरुदत्त सरकार की नौकरी को विघाता द्वारा निर्मित विधान का अतिक्रमण करना मानते थे। काश, सभी पढ़े-लिखे भारतवासी इस भावना को अपनाते और इस आदर्श को स्वीकार करते। ऐसा होने पर ही भारत का दुर्भाग्य सूर्योदय के समय नष्ट हो जाने वाले अन्धकार की भाँति विलीन हो सकता है।

जो लोग कानून का व्यवसाय (वकालत) करते हैं या न्यायिक

सेवा में प्रविष्ट होते हैं, उनकी यदि मैं निन्दा करूँ तो यह मेरी अहम्मन्यता तथा वैचारिक विषमता ही होगी, क्योंकि जैसाकि स्वयं पं० गुरुदत्त विद्यार्थी ने कहा था, परिस्थितियाँ मनुष्य को कोई-न-कोई काम करने के लिए विवश करती हैं और ऐसा कौन है जो इन परिस्थितियों का गुलाम नहीं ? यदि इन व्यवसायों को अपनाने वाले व्यक्ति इन्हें छोड़ दें और फलस्वरूप वकालत और न्यायिक सेवाओं में कम योग्यता और कम ईमानदारी वाले लोग घुस आयें तो भी इससे देश का उससे अधिक अहित तो होने वाला नहीं है जो वर्तमान स्थितियों में हो ही रहा है। किन्तु एक बात निश्चित है, पं० गुरुदत्त तो कानून के व्यवसाय को अपनाने के विचार मात्र से ही भयकंपित हो जाते थे। उनकी पक्की धारणा थी कि इस धन्धे में न तो सार्व-जनिक हित का ध्यान रक्खा जाता है और न यह अधिकतम लोगों के अधिकतम हित के सिद्धान्त को ही स्वीकार करता है। अतः उन्होंने शीघ्र ही निश्चय कर लिया कि पंजाब विश्वविद्यालय तथा सरकारी अधिकारियों द्वारा दिखाई गयी कृपा दृष्टि की उपेक्षा करेंगे और न्यायिक सेवा में प्रविष्ट नहीं होंगे। यदि वे इस अवसर का लाभ उठाना चाहते, तो उनके असफल होने की तो कोई सम्भावना ही नहीं थी। हम पुनः उनकी डायरी की ओर लौटें।

२४ जनवरी, १८८८—लिखने के लिए कोई खास बात नहीं है। रुपये-पैसों के मामले में काफी परेशानी है।

११ मई, १८८८—बर्मा निवासी एक पंजाबी का पत्र मिला। इससे वहाँ के निवासियों और भारतीयों के रीति-रिवाजों की समानता का पता चलता है। क्या मेरे लिए कोई लक्ष्य बनाया ही नहीं गया है, हे ईश्वर, मुझे रास्ता बता ताकि मैं खुद के लिए तथा संसार के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकूँ।

इस वाक्य में पं० गुरुदत्त के अन्तर्मन की अभिव्यक्ति हुई है। यद्यपि उन्हें अपने देश से प्रेम था, किन्तु अखिल मानवता के प्रति उनका प्रेम देश-प्रेम की भावना से कहीं अधिक विराट् था। इटली निवासी एक विख्यात देशभक्त का निम्न कथन उनकी स्थिति को स्पष्ट करता है—

“जो लोग यह कहकर तुम्हें नैतिकता का पाठ पढ़ाते हैं कि तुम्हारा कर्त्तव्य तो मात्र अपने परिवार या देश के प्रति है, वे वास्तव

में तुम्हारी उस अहंभावना को ही बढ़ाते हैं जो स्वयं तुम्हें तथा दूसरों को हानि पहुँचाती है। परिवार और पितृभूमि तो एक बड़े वृत्त में खींचे हुए छोटे गोले हैं। ये उस सीढ़ी की दो पायदानें हैं, जिन पर तुम्हें चढ़ना है। यह तो ठीक है कि इन पायदानों पर पाँव रखे बिना तुम्हारा ऊपर की मंजिल तक जाना असम्भव है, किन्तु इन पर ही बैठकर तुम्हें विश्राम थोड़े ही करना है।”

इसी महीने की ११ तारीख को लिखे निम्न वाक्य के साथ ऊपर लिखे उद्धरण को पढ़ें—“हे परमात्मा, अपने इस दास में ऐसे बोध की प्रेरणा कर, जिससे वह अपने देशवासियों को पवित्र और उत्तम संस्कार दे सके।”

१८ सितम्बर—मैंने आज दिन भर वैशेषिक दर्शन का अध्ययन किया। मैं सोचता हूँ कि मुझे छहों दर्शनों पर संक्षिप्त व्याख्याएँ लिखनी चाहिए। इसका दुर्तरफ़ा लाभ होगा। २२ जनवरी, १८८६ की डायरी में इस प्रसंग में उनका लिखा निम्न अन्तिम नोट मिलता है—

“क्या मैं संस्कृत की एक पत्रिका नहीं निकाल सकता ? क्या मुझे सत्यार्थप्रकाश का अनुवाद नहीं करना चाहिए ?” हाँ, यह उनका अन्तिम निर्णय था जिसे उन्होंने जून १८८६ के वैदिक मैगजीन में व्यक्त किया। इस पत्र को निकालने के उद्देश्य को बताते हुए उन्होंने जो लेख लिखा था, उसका एक उद्धरण पाठक आगे ‘वैदिक संज्ञा-विज्ञान’ पर लिखित लेख में देख पायेंगे। अपने निश्चय को क्रियान्वित करने के लिए जिस कर्तव्यपथ को उन्होंने चुना था, उसके लिए शास्त्रों का अध्ययन भी अनिवार्य था। किन्तु इसी घोर परिश्रम के फलस्वरूप उनके रोग ने भयंकर रूप धारण कर लिया और अन्ततः उन्हें दुर्भाग्यपूर्ण एवं असामयिक मृत्यु का ग्रास बनना पड़ा। अहा, मृत्यु भी कितनी क्रूर होती है।

अध्याय ८

पण्डित गुरुदत्त के जीवन का अन्तिम वर्ष

हमारे कथा-नायक के जीवन का अन्तिम वर्ष आर्यसमाज में उत्पन्न आन्दोलनों और उनकी प्रतिक्रिया में उत्पन्न अन्य आन्दोलनों का साक्षी रहा। इन आन्दोलनों का आर्यसमाज और व्यापक भारतीय समाज के लिए विशिष्ट महत्व था। इन दिनों आर्यसमाजियों की सभी सभाओं में असाधारण उत्साह दिखाई देता था, चाहे वे नव स्थापित डी० ए० वी० कालेज की स्थापना की श्लाघा में आयोजित की गई अथवा समाज के अन्य हितों को लेकर। हम पहले कालेज की समस्याओं की ही चर्चा करें। डी० ए० वी० स्कूल और कालेज में संस्कृत साहित्य के पठन-पाठन की क्या स्थिति हो, इस बात को लेकर आर्यसमाज के नेताओं में पर्याप्त मतभेद था। आर्यसमाज के एक महत्त्वपूर्ण दल का यह विश्वास था कि कालेज अपने लक्ष्य से हट रहा है और इसकी स्थापना का प्रयोजन ही कुण्ठित किया जा रहा है। वे यहाँ तक कह रहे थे कि इस संस्था के प्रबन्धक और ट्रस्टी विश्वासघात के दोषी हैं और उन्हें दण्डित किया जाना चाहिए। इस अत्युत्साही दल के गरम विचारों के नेता हालाँकि संख्या में कम थे, किन्तु वे चाहते थे कि कालेज के मौजूदा संविधान को समाप्त कर नवीन परिवर्तन लाया जाए। किन्तु वे इसके स्थान पर कोई अधिक अच्छी व्यवस्था ला सकने में असमर्थ थे। बेचारे गुरुदत्त विद्यार्थी को इस दल का नेता बताया जा रहा था और दूसरे दल के कुछ अगम्भीर सज्जन इस सबके लिए उन्हें ही बदनाम कर रहे थे। उनकी कतिपय चारित्रिक विशेषताओं का लोगों ने अन्य ही अर्थ लगाया। वे खुले दिमाग के व्यक्ति थे, कूटनीतिक चालों से घृणा करते थे, उनका बात करने का लहजा नैतिक शक्ति से भरपूर था। उनके व्यवहार और विचारों की सादगी का फायदा उठाकर उपर्युक्त दल की कतिपय मूर्खतापूर्ण धारणाओं के साथ उनके नाम को भी जोड़ दिया गया। इस प्रश्न पर उनसे अनेक बार चर्चा करने का अवसर मुझे मिला था।

और उन्होंने अपने विचार मुझे बताये भी थे। उन्होंने अत्यन्त तर्कपूर्ण ढंग से मुझे कहा था कि डी० ए० बी० कालेज की स्थापना का उद्देश्य विश्वविद्यालय की परीक्षाओं को उत्तीर्ण करने वाले स्नातकों की संख्या बढ़ाने का नहीं है। इसका लक्ष्य ऐसे वकील और सम्पन्न जीवन व्यतीत करने वाले नागरिकों को उत्पन्न करना भी नहीं है, जो हमारे देश को बर्बाद कर दें। हमारा प्रयोजन ऐसे व्यक्तियों का निर्माण करना नहीं है जो मनुष्य की आत्मिक अवनति के कारण वनें और अन्ततः एक ऐसे वर्ग को विकसित करें जो समतारहित और अधार्मिक मूल्यों को प्रोत्साहित करने वाला हो। ऐसे लोगों के स्वार्थ हमारी जाति को विभाजित करके रख देंगे। इसी प्रसंग में उन्होंने कहा कि डी० ए० बी० कालेज का प्रयोजन लिपिक, न्यायिक अधिकारी, इंजीनियर अथवा सरकारी मशीनरी को गति देने वाले उच्च या निम्न स्तर की नौकरशाही के लिए भर्ती जुटाना नहीं है। उन्होंने यह भी कहा कि कालेज की स्थापना के लिए धन की अपील करते समय हमने जो विचार जनता के समक्ष प्रस्तुत किये थे, उन पर डटे रहना हमारी नैतिक जिम्मेदारी है। हमें यह भी देखना होगा कि इस संस्था की स्थापना में निहित उद्देश्य हमारी दृष्टि से ओझल न हो जाएँ। हमें सिद्धान्तों को ठुकराकर तथा संस्कृत की उपेक्षा करके सस्ती लोकप्रियता हासिल नहीं करनी है। वे कोई अन्तरिम या कामचलाऊ व्यवस्था करने के खिलाफ थे और स्पष्ट रूप से कहते थे कि शास्त्रीय संस्कृत साहित्य के अध्ययन पर हमें जोर देना चाहिए, तथापि अंग्रेजी शिक्षा की उपेक्षा नहीं करनी है। उनका विश्वास था कि वेद और वैदिक साहित्य के व्यवस्थित अध्ययन से हम अपने दुर्दशाग्रस्त तथा असंगठित हिन्दू समाज को व्यवस्थित और संगठित कर सकेंगे। उनका विचार था कि वैदिक सिद्धान्तों के ऐसे प्रचारक तैयार करना ही सच्ची देशभक्ति है, जो एक बार पुनः धरती पर मानव मूल्यों की स्थापना कर उनका औचित्य सिद्ध कर सकें। वे वेद प्रतिपादित आदर्शों के अतिरिक्त अन्य किन्हीं आदर्शों को स्वीकार नहीं करते थे, अतः यह स्वाभाविक ही था कि लोग उन्हें कल्पनालोक में विचरण करने वाला व्यक्ति समझते। प्रारम्भ में तो दूसरे दल के लोगों ने उनके कथन की उपेक्षा ही की किन्तु जब इन लोगों ने अंग्रेजी साहित्य और पश्चिमी विज्ञान की पढ़ाई पर

अनावश्यक बल देना आरम्भ किया तो पं० गुरुदत्त ने अंग्रेजी की शिक्षा का पूर्ण बहिष्कार करने का नारा लगा दिया। किन्तु उनका शिक्षा के बारे में वास्तविक दृष्टिकोण क्या था, इसे हम ऊपर बता चुके हैं। वे अंग्रेजी शिक्षा को पूर्णतया बहिष्कृत करने के पक्षपाती कैसे हो सकते थे, जब वे जानते थे कि इस शिक्षा ने खुद उनकी कितनी भलाई की है। वे पश्चिमी विज्ञान के अध्ययन को प्रतिबन्धित कैसे कर सकते थे जब कि वे स्वयं इसी विज्ञान में योग्यता प्राप्त कर संस्कृत के ग्रन्थों की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या करने में सफल हुए थे। वास्तव में वे एक ऐसी शिक्षा नीति के लिए लड़ रहे थे, जिसमें संस्कृत साहित्य को प्रमुख स्थान मिले। वे स्वामी दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट शिक्षा-प्रणाली के आधार पर ही संस्कृत शिक्षण को विकसित करना चाहते थे। बाद में उन्होंने यह भी अनुभव किया कि संस्कृत के अध्ययन की वर्तमान प्रणाली से ऐसे धर्मप्रचारक तैयार करने में कोई मदद नहीं मिलेगी जो कि स्वामी दयानन्द की विचारधारा का प्रचार करने में सहायक सिद्ध हो सकें। तब उन्होंने यह कहना आरम्भ कर दिया कि ऐसे धर्म-प्रचारक तैयार करना ही डी० ए० बी० कालेज का लक्ष्य होना चाहिए और यदि उनकी तैयारी के लिए कालेज के विधान में कोई प्रावधान नहीं है तो यह सर्वथा अन्यायपूर्ण है। डी० ए० बी० कालेज में शिक्षा की कौन-सी पद्धति प्रचलित हो, इस प्रश्न पर उनके विचार इसी प्रकार के थे और इसी प्रकार के विचारों का संघर्ष विगत आठ वर्षों से आयों के मन में उथल-पुथल मचा रहा था। विरोधी पक्ष के कुछ लोगों ने पं० गुरुदत्त विद्यार्थी के प्रति जो अन्यथा धारणा व्यक्त की उससे सभी सच्चे आयों को खेद ही हुआ। चाहे पं० गुरुदत्त के ये विचार कुछ अपरिपक्व या विस्तार में जाने पर कुछ अव्यावहारिक भले ही लगते हों, हर कोई स्वीकार करेगा कि उनकी धारणाएँ सर्वथा स्वार्थरहित तथा निष्पक्ष थीं। अतः यही कहना होगा कि आर्यसमाज में उस समय जो विभाजन हुआ, उसका कारण न तो पं० गुरुदत्त थे और न उनकी शिक्षा-नीति, बल्कि उनके विचारों को जिस प्रमादपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया और जैसा सन्देहपूर्ण वातावरण बनाया गया, उसी के परिणामस्वरूप आर्यसमाज में फूट पड़ी। वैयक्तिक वार्तालाप के प्रसंग में जो कुछ असावधानी से कहा गया या जो वाक्य अविचारित भाव से निकले उन्हें ही एक-दूसरे का स्वीकृत मत कहकर प्रसारित

कर दिया गया। मेरे कथन से चाहे दोनों पक्षों को ही पीड़ा पहुँचे, मैं यह कहने में संकोच नहीं करूँगा कि एक-दूसरे के मन्तव्यों को अतिशयोक्ति तथा अतिरंजनापूर्वक व्यक्त करना अत्यन्त अनार्योचित कार्य था और इसी कारण खतरा और भी बढ़ गया। जिन लोगों ने गलत और भ्रमात्मक अफवाहें फैलाकर आर्यसमाज में दलबन्दी के बीज बोए, उन्हें तो उस समाज के साथ अपना सम्बन्ध बताने में ही लज्जित होना चाहिए, जो अपने नियम में स्पष्ट घोषणा करती है कि 'सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य वर्तना चाहिए।' दूसरे पक्ष (कल्चर्ड पार्टी) के लोगों ने पाठ्यक्रम में आकस्मिक और क्रान्तिकारी परिवर्तन करने को स्वीकार किया, विशुद्ध संस्कृत शिक्षण के लिए कक्षा आरम्भ करने के प्रस्ताव से असहमति व्यक्त की तथा डी० ए० वी० कालेज सौसाइटी के नियमों की धारा ३ के अन्तर्गत इस संस्था के जो उद्देश्य निर्धारित किये गये थे, उनसे किसी भी प्रकार दूर हटने के किसी भी विचार का भरपूर विरोध किया। वास्तव में दोनों पक्षों में असहमति तो 'इसी बात को लेकर थी कि जिस पाठ्यक्रम को पं० गुरुदत्त तुरन्त लागू करना चाहते थे उसे चालू करने में कितना समय लगे या कैसे साधन अपनाये जाएँ। अन्ततः समझ-दारी की ही जीत हुई और दोनों पक्षों का समाधान हो गया। पं० गुरुदत्त के कुछ प्रस्ताव तो किंचित् परिवर्तन के साथ तुरन्त मान लिए गये और कुछ अन्य प्रस्तावों को भविष्य के लिए स्थगित कर दिया गया।

और लोग चाहे जो सोचते हों, डी० ए० वी० कालेज की माध्यमिक कक्षाओं में पाणिनि की अष्टाध्यायी के अध्ययन को स्थान मिलना पुरातन संस्कृत-शिक्षण की विजय ही थी और इसके लिए हम पं० गुरुदत्त विद्यार्थी तथा कुछ अन्यो द्वारा किये गये अनवरत प्रयत्नों के प्रति कृतज्ञ हैं। इस अद्वितीय संस्थान के इतिहास में अष्टाध्यायी का प्रवेश एक नये युग के प्रारम्भ का सूचक है और हम तो यह भी कहेंगे कि हमारी यह संस्था (डी० ए० वी० कालेज लाहौर) भारत के शिक्षा-जगत् में अपनी विशिष्टता रखती है। संस्कृत अध्ययन की कुछ अन्य सुविधाएँ भी दी गई हैं और वह दिन दूर नहीं है, जब इस कालेज में पश्चिमी विज्ञान के साथ-साथ पवित्र वेदों का भी गम्भीर अध्ययन होगा। अभी तो यह कालेज पाँच वर्ष का नन्हा बच्चा ही

है। हमें इस कथन को कभी भुलाना नहीं चाहिए कि धीमी किन्तु स्थिर प्रगति ही स्थायी और सुरक्षित होती है। हम सर्वतोमुखी और सन्तुलित विकास के पक्षपोषक हैं और यही हमारा लक्ष्य है। हमें अपने लक्ष्य तक पहुँचने में जिस मैदान को पार करना है, वह बहुत फिसलन-भरा है और इस पर जितनी सावधानी से हम चलेंगे, लक्ष्य के निकट पहुँचने की उतनी ही सुनिश्चितता रहेगी। हमें अपने हृदयों में जिस स्वर्णिम नियम को अंकित कर लेना चाहिए वह है, परिश्रम करना और फल की धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करना।

विवाद का दूसरा मुद्दा था मांसाहार का औचित्य या अनौचित्य। कई लोगों ने इस विवाद को आर्यसमाज के लिए अत्यन्त अनिष्टसूचक बताया और आशंका प्रकट करते हुए कहा कि इससे आर्यसमाजरूपी नौका के टूट जाने की सम्भावना है। इस विषय पर पं० गुरुदत्त के विचार स्पष्ट तथा असंदिग्ध थे। उनका विश्वास था कि वेदों में मांसाहार की आज्ञा नहीं है, अपितु स्पष्ट निषेध है, अतः इसे पाप ही मानना होगा। उनके इन विचारों का समर्थन स्वामी दयानन्द की अधुनातन उक्तियों से होता है। अतः आर्यसमाज का एक बड़ा बहुमत भी इसी मान्यता को स्वीकार करता है। मांसाहार के समर्थक, जो शरीर पोषण की दृष्टि से इसकी हिमायत करते हैं, अब तक अपने मत के समर्थन में एक भी वेद मन्त्र को प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। मेरी इस मसले पर उस व्यक्ति से बात हुई है जो मांस-भक्षण का समर्थन करने वाले आर्यों का नेता^{२५} माना जाता है। (हालाँकि ऐसे आर्यों की संख्या बहुत कम है) यदि मैं उसके साथ न्याय करूँ तो यही कहूँगा कि वह भी न तो मांसाहार को अच्छा ही मानता है और न यही कहता है कि मांस को अवश्यमेव खाना ही चाहिए, अपितु वह तो मांसाहार को पाप मानने से इन्कार करता है। उस व्यक्ति से मांसाहार के प्रश्न पर मेरा बहुत बार वार्तालाप हुआ है और इससे जो मैं समझ पाया हूँ वह यही है कि उसके विचार में हिन्दुओं के आयुर्वेद ग्रन्थों—चरक तथा सुश्रुत में मांसाहार का विधान है। ऐसी स्थिति में उसे वेदों द्वारा प्रतिषिद्ध कैसे मान लिया जाय? जब उससे मांस के समर्थन में किसी वेद वाक्य को प्रस्तुत करने के लिए कहा गया तो उसने अपने को इसमें पूर्ण असमर्थ जाहिर किया। उसने वेद पढ़े ही नहीं थे। सितम्बर १८८६ में पं० गुरुदत्त इस विषय

पर एक निबन्ध लिखने के लिए सामग्री एकत्र कर रहे थे। यदि क्रूर काल के हाथों वे इस संसार से नहीं उठा लिये जाते, तो हमें इस विषय पर उनकी एक अधिकृत व्याख्या प्राप्त हो जाती। उनकी डायरी में एक स्थान पर इस विषय से सम्बद्ध प्रमाणों की एक तालिका लिखी मिलती है। मैं इसे इस पुस्तक के परिशिष्ट रूप में प्रकाशित कर रहा हूँ ताकि जनसाधारण के हित के लिए उसकी विस्तृत व्याख्या की जा सके।

गत अध्याय में उल्लिखित विवाद का तीसरा मुद्दा था नियोग का सिद्धान्त, जिससे पं० गुरुदत्त को निपटना था। ईसाइयों ने इस पर बहुत जोरदार हमले किये^{५६} और स्वामी दयानन्द की नाना प्रकार से निन्दा की। इसके उत्तर में जो कुछ कहा गया, वह भी उतना ही गम्भीर था। किन्तु जब तक गुरुदत्त विद्यार्थी ने नियोग की स्पष्ट और उदात्त व्याख्या प्रस्तुत नहीं कर दी, तब तक सभी प्रकार के तर्क-वितर्क और पादरियों के लिए कहे गये निन्दापूर्ण कथन व्यर्थ ही रहे।

अब हम इस वर्ष की कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाओं की ओर आये। मूर्ति-पूजा का समर्थन करने वाले पौराणिक हिन्दुओं के भारत धर्म महामण्डल के साथ संघर्ष से यह वर्ष आरम्भ हुआ। लाहौर की आर्यसमाज ने महामण्डल वालों का शास्त्रार्थ सभा में उत्साह से स्वागत किया। हालाँकि दोनों ही विरोधी दलों के पास अपने-अपने हथियार थे, किन्तु परिणाम आशातीत रूप से सन्तोषजनक रहा। पं० गुरुदत्त ने इस धार्मिक विवाद में महत्त्वपूर्ण भाग लिया तथा अपने पक्ष के समर्थन तथा विपक्ष के प्रतिवाद में अनेक भाषण दिये। २६ फरवरी १८८६ की 'आर्यपत्रिका' मण्डल की स्थापना का स्वागत करते हुए उसके भावी अस्तित्व के प्रति आशावान है। इसी अंक में यह लिखा मिलता है कि महामण्डल से हुए इस शास्त्रार्थ के फल-स्वरूप आर्यसमाज को पचास नये सदस्य मिले।

२३ फरवरी १८८६ को गुजरावाला आर्यसमाज के वार्षिक उत्सव पर उन्होंने ब्रह्मचर्य तथा शिक्षा विषय पर एक व्याख्यान दिया। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि यह उनकी योग्यता के अनुकूल ही था।

पुनः मई के महीने में धर्म महामण्डल के साथ केशवानन्द ने

लाहौर में यह कहकर हलचल मचाई कि वेदों में प्रयुक्त शब्द यौगिक नहीं अपितु रूढ़ होते हैं। पं० गुरुदत्त ने एक उत्तम व्याख्यान देकर इसका प्रतिवाद किया। इसका लाहौर की जनता पर गहरा प्रभाव दिखाई दिया। कुछ समय बाद लाहौर की धर्म सभा ने संस्कृत में व्याख्यान देने की चुनौती दी और उन्होंने एक घण्टे से अधिक समय तक संस्कृत में आशु व्याख्यान देकर एक बहुत बड़ी सभा को चमत्कृत कर दिया। इससे उनकी गम्भीर विद्वत्ता तथा शास्त्रों के व्यापक ज्ञान का परिचय लोगों को मिल गया।

इन्हीं दिनों में पं० गुरुदत्त उपदेशक कक्षा आरम्भ कराने के लिए एक आन्दोलन संचालित कर रहे थे। आज की उपदेशककक्षा-निधि को स्थापित करने का श्रेय भी उन्हीं को है। वैदिक कक्षा के संचालन के लिए एक अन्तरिम समिति गठित की गई तथा साधु रामानन्द को इस कार्य के लिए चन्दा एकत्र करने का काम सौंपा गया। पं० गुरुदत्त ने एक अन्य परिश्रमसाध्य तथा दुर्वह कार्य अपने जिम्मे लिया। यह था अष्टाध्यायी पढ़ाने के लिए महाभाष्य की कक्षा का आरम्भ। इस कक्षा की सफलता के लिए बहुत आशाएँ की गई, क्योंकि इसमें आर्यसमाज के अनेक उदीयमान नवयुवकों ने प्रवेश लिया था। मई के महीने में वैदिक मैगजीन के प्रकाशन की सूचना प्रसारित हुई और पहली जून को इसका प्रथम अंक निकला। मुझे इस पत्र के बारे में आगे बहुत-कुछ कहना है, अतः मैं इस विषय पर अभी कुछ नहीं लिखूँगा।

अप्रैल १८८६ में मि० ओमन के अपने कार्यभार को पुनः सँभाल लेने पर पण्डित जी गवर्नमेंट कालेज लाहौर के प्राध्यापक पद से मुक्त हो गये। ज्यों ही वे नौकरी से हटे, उन्होंने साहित्यकार का जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया। एक मित्र ने हमें बताया कि वे सक्रिय जीवन से विराम लेकर वानप्रस्थ आश्रम को ग्रहण करने के बारे में गम्भीरता से विचार कर रहे थे। किन्तु परिवार के दायित्व इस मार्ग में उनके बाधक थे। अन्ततः उन्होंने लेखक का जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया। वैदिक मैगजीन के लिए लेखन कार्य में जुट जाने पर उन्हें कठिन परिश्रम और अनवरत अध्यवसाय करना पड़ा। फलतः उनका स्वास्थ्य नष्ट हो गया और वे क्षय रोग के शिकार हो गये। वैदिक मैगजीन के लिए उन्होंने

साहित्य का विस्तृत अध्ययन किया। प्रो० मैक्समूलर के प्रायः सभी ग्रन्थों के अतिरिक्त न्याय, मीमांसा, वैशेषिक और योग दर्शन, निरुक्त तथा स्वामी दयानन्द का वेदभाष्य, पतंजलिकृत महाभाष्य तथा मनु-स्मृति। इनके अतिरिक्त उन्होंने जो कुछ पढ़ा वह इतना अधिक है उस सबका नामोल्लेख भी सम्भव नहीं है। जब वैदिक मैगजीन का दूसरा अंक छपा तो यह सिद्ध हो गया कि जो कठिन कार्य उन्होंने अंगीकार किया, उसमें उन्हें निश्चित सफलता मिली है। जुलाई में उन्होंने शिकायत करते हुए कहा मानो उनके शरीर की विद्युत् शक्ति बाहर निकल रही है। अगस्त में उन्हें ठण्ड लग गई। सर्दी की यह शिकायत शीघ्र ही खाँसी और बुखार में बदल गई और सितम्बर के पूर्वार्द्ध तक वे इन्हीं तीन बीमारियों से ग्रस्त रहे। अब उन्होंने स्वास्थ्य लाभ के लिए पर्वत पर जाने का निश्चय किया। यह एक संयोग ही था कि उनके मरी^{१०} के लिए प्रस्थान करने के एक दिन पूर्व मैं लाहौर पहुँच गया। उन्होंने मुझे अपने साथ मरी चलने के लिए कहा और हम दोनों चल पड़े। मरी जैसे पर्वत पर सरदार उमरावसिंह मजीठिया के आतिथ्य ने हमें सब प्रकार की सुविधाएँ प्रदान कीं। मैं वहाँ लगभग एक सप्ताह तक रहा। इस बीच हम प्रायः बहुत दूर तक साथ-साथ घूमते, किन्तु मैंने देखा कि पण्डित जी की शक्ति का ह्रास हो रहा है। उन्हें प्रायः ज्वर हो जाता और उस कम्बख्त सर्दी ने तो उनका पीछा ही नहीं छोड़ा। यहाँ वे चरक, सुश्रुत तथा मनु-स्मृति का अध्ययन करते थे। मरी से वे पेशावर गये और वहाँ की आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित हुए। यहाँ उन्होंने वेदों पर एक व्याख्यान दिया। उत्सव समाप्त होने के बाद भी वे पाँच दिनों के लिए वहाँ रुके और आत्मा के पुनर्जन्म पर २-३ व्याख्यान दिये। पेशावर से वे सीधे लाहौर आये और उन्होंने अब जो रोग शय्या पकड़ी तो उसे मृत्यु के उपरान्त ही छोड़ा।

नवम्बर में आर्यसमाज लाहौर के वार्षिकोत्सव के अवसर पर जब मैंने उन्हें देखा तो यह जानकर प्रसन्नता हुई कि उनका स्वास्थ्य बहुत अधिक शोचनीय नहीं है। डी० ए० वी० कालेज के प्रति उनके प्रेम का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि वे अपनी बीमारी के दिनों में भी कालेज की प्रबन्धक समिति की बैठक में गये, यद्यपि उनकी स्थिति उस समय अत्यन्त शोचनीय थी। कंकाल मात्र

शरीर वाले पं० गुरुदत्त इस बैठक में उपस्थित होकर मानो अपनी वीरता तथा त्याग की छाप उन लोगों पर डालने के लिए ही वहाँ आये थे, जिन्होंने उन्हें वहाँ देखा। इसके पश्चात् अपने मित्रों की गम्भीर सलाह को मानकर वे गुजरांवाला गये और डा० फतहचन्द की चिकित्सा में रहे। यहाँ मैं इस योग्य डाक्टर को सार्वजनिक रूप से धन्यवाद अर्पित करना चाहता हूँ। उन्होंने नितान्त अवधानपूर्वक पण्डित जी की चिकित्सा की, किन्तु जब उनके उपचार से भी कोई लाभ नहीं हुआ तो उनके स्वस्थ होने की आशा क्षीण हो गई। उनकी बीमारी ने सर्वत्र सहानुभूति उत्पन्न की तथा उनके मित्रों और प्रशंसकों ने चिकित्सा के लिए धन जुटाने में भी कोई कसर नहीं रक्खी। इसके लिए मैं उन्हें कोई श्रेय नहीं दूँगा क्योंकि उन्होंने तो अपना कर्त्तव्य ही किया था। जनवरी १८९० के आरम्भ में उन्हें पुनः लाहौर लाकर एक बंगले में रक्खा गया, जो इसी काम के लिए किराये पर लिया गया था। यहाँ उन्हें लाहौर के सुप्रसिद्ध चिकित्सक स्व० डा० नारायणदास की निगरानी में रक्खा गया। अलग-अलग जगहों के अनेक प्रसिद्ध डाक्टर आये और उन्होंने पं० गुरुदत्त के अलग-अलग उपचार किये किन्तु किसी से कोई लाभ नहीं हुआ। अब उनके परिवार के सदस्य भी लाहौर आ गये थे, इसलिए उन्हें शहर में उनके पुराने निवास पर लाया गया। डा० नारायणदास का इलाज चलता रहा। जब सभी डाक्टरों के उपचार व्यर्थ गये तो उनके मित्रों ने निकटवर्ती देहात से कोई सुयोग्य चिकित्सक को लाने का विचार किया। अन्ततः जालंधर के हकीम शेरअली को लाया गया। उनकी चिकित्सा ने चमत्कार दिखाया और एक सप्ताह में ही इतना सुधार हुआ कि उनका पूर्ण स्वस्थ हो जाना कुछ दिनों की बात रह गई। किन्तु यह तो मात्र एक भ्रान्ति ही थी। उनकी बीमारी ने अचानक पलटा खाया और इस बार वे स्वस्थ नहीं हो सके। बीमारी के दौरान उन्होंने पीड़ा को सहन करने में असाधारण साहस दिखाया और आह तक नहीं की। प्रायः वे उपनिषदों के पाठ को सुनते। यहाँ तक कि मृत्यु की रात उनके प्यारे और पुराने मित्र रैमलदास ने उन्हें ईशोपनिषद् पढ़कर सुनाया। इस रात में बड़ी देर तक वे ईश्वर उपासना तथा ध्यान में लगे रहे। उनके चाचाजी भजन गाते रहे। उस रात शान्ति-सरोवर शीर्षक भजन गाया गया। वे स्वयं भी वेद-

मन्त्रों का उच्चारण करते रहें और मृत्यु के क्षण तक उनके मन की शान्ति भंग नहीं हुई। कुछ क्षणों में ही उनका देहान्त हो गया। इस प्रकार बहुत काल तक पीड़ा भोगकर १६ मार्च १८६० को प्रातः ७ बजे उनका प्राणान्त हुआ। उनके देहान्त के समाचार से लाहौर के नागरिकों को जो दुख हुआ वह वर्णनातीत था। उनके अभाव का दुख सर्वत्र अनुभव किया गया। उनके निधन के समाचार ने पंजाब में सर्वत्र शोक की लहर पैदा कर दी। पं० गुरुदत्त के परलोकगमन से समस्त देश में जो शोक अनुभव किया गया, उसका अनुमान पाठक नीचे दिये गए अंग्रेजी तथा हिन्दी के पत्रों में छपे शोक-संवादों को पढ़कर कर सकते हैं।

२५ मार्च १८६० की आर्य-पत्रिका ने जो शोकसूचक लेख छापा, उसे यहाँ दिया जा रहा है।

पं० गुरुदत्त का निधन : हमारी अपारि हानि

एक असाधारण व्यक्ति, एक सच्चा, गम्भीर तथा पारगामी संस्कृत विद्वान् और पुरातन ऋषियों का उत्तराधिकारी उठ गया। आर्यसमाज जिन पर गर्व करता था, जो समाज के रत्न थे, जिन्हें हम देश के भूषण समझते हैं, जिन पर हम सबको गर्व था तथा जो सत्य और ज्ञान को ही सर्वोपरि मानते थे, ऐसे पं० गुरुदत्त विद्यार्थी अब हमारे बीच में नहीं हैं। हाँ, अब वे अपने भौतिक शरीर में विद्यमान नहीं हैं। हम सभी युवा और वृद्ध उनके वियोग से दुखी हैं। हमें विश्वास ही नहीं होता कि वे हमारे मध्य नहीं हैं। उनके निधन से हुई हमारी हानि इतनी असाधारण और गम्भीर है कि उसका बखान करना भी सम्भव नहीं। अहा, अब उनके तुल्य अन्य कोई व्यक्ति कब जन्म लेगा ? उनके जैसा विद्वान् और प्रतिभाशाली, नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से विख्यात, धैर्यवान और सहनशील तथा प्रत्येक प्रकार के अन्धविश्वासों से दूर, ऐसे व्यक्ति को अब हम कब देख पायेंगे ? हम ऐसे महानुभाव को अब कब देख सकेंगे जो सत्य के प्रकाश को फैलाने के लिए सर्वात्मना समर्पित था, उस सत्य को जो वैदिक धर्म का शाश्वत तत्त्व है। गुरुदत्त के सिवा ऐसा कौन है जो ईश्वरीय वाक्य वेद तथा उसके जानकार ऋषि-मुनियों के माध्यम से सर्वोच्च परमात्म तत्त्व तक संसार को पहुँचाने के लिए लालायित था। हे

गुरुदत्त, इस घड़ी तुम्हारा वियोग अपूरणीय है। जिस कार्य को करने की क्षमता तुममें थी वैसा अब कोई व्यक्ति इस क्षेत्र में दिखाई नहीं देता।

हे युवक, तुम्हारी आत्मा सचमुच महान् थी। तुम्हारा अल्प जीवन अत्यन्त प्रकाशमान था, हालाँकि तुम स्वयं भी इस सत्य को नहीं जानते थे। तुम्हारे लक्ष्य ऊँचे और महान् थे। तुमने गौतम, पतंजलि, व्यास, याज्ञवल्क्य और स्वामी दयानन्द को अपना आदर्श बनाया था। इन्हीं के सूक्ष्म संसर्ग में रहने में तुम्हें आनन्द मिलता था, इनका मार्ग-दर्शन तुम्हें प्राप्त था। तुम इतने ऊँचे और होनहार थे, तथापि तुम्हारा जीवन-तन्तु इतनी जल्दी टूट गया। हमने तुमसे क्या-क्या आशाएँ नहीं रखी थीं और यदि सर्वविधाता परमात्मा ने तुम्हें कुछ लम्बी आयु दी होती तो सत्य के लक्ष्य को प्राप्त करने में तुम्हें सफलता भी मिलती। किन्तु परमात्मा की इच्छा ही पूरी होती है। तुम्हारी आत्मा अब परम पिता का सान्निध्य पाकर अधिक प्रसन्न है। अब वह सांसारिक बन्धनों से मुक्त है, तथापि हम तो यही कहेंगे कि काश, तुम हमारे बीच अधिक काल तक रह पाते। तथापि हमें कोई शिकायत नहीं है, क्योंकि परम पिता की आनन्दमयी गोद में मोक्ष के आनन्द को प्राप्त करने के पूर्व यदि तुम एक बार और जन्म लोगे तो निश्चय ही तुम हमारे बीच ही आओगे। उस समय सत्य के लक्ष्य को प्राप्त करने में तुम्हारी शक्ति शतगुणा अधिक होगी।

इस मास की १६ तारीख को प्रातः साढ़े सात बजे पं० गुरुदत्त हमसे विदा हुए। वे उस भयंकर क्षय रोग से पीड़ित थे जो आजकल हमारे देश में बहुत फैल गई है। जब तक वे जीवित रहे, उनका व्यक्तित्व धार्मिक उत्साह तथा उदात्त चरित्र के प्रभामण्डल से उद्दीप्त रहा। वे हमारे अध्ययन एवं अनुकरण के पात्र रहे, किन्तु उनके जीवन का अन्त भी उनकी महान् आत्मा के अनुकूल ही था। वे लगभग ६ मास तक अस्वस्थ रहे थे, और उस अवधि में भी वे पूर्ण शान्त, गम्भीर तथा भयंकर कष्ट रहते हुए अडोल रहे। भयंकर यन्त्रणाएँ भोगते हुए भी उन्होंने उफ तक नहीं की। जब-जब उन पर ज्वर का भीषण आक्रमण हुआ, और ज्वर तो उनके शरीर की एक सहज स्थिति ही बन गई थी, उस स्थिति में भी सदा शान्त एवं गौरवयुक्त दिखाई दिये जैसाकि ज्वर से अस्थायी मुक्ति पाने पर

दिखाई पड़ते थे। हाँ, वे जानते थे कि एक सच्चे आर्य की भाँति कष्टों को कैसे झेला जाता है। वे जानते थे कि परमात्मा की इच्छा के आगे मनुष्य को कैसे स्वयं को समर्पित करना पड़ता है, कारण कि उन्होंने खुद स्वामी दयानन्द को अपने जीवन की अन्तिम अवस्था में परमात्मा की इच्छा के आगे झुकते देखा था। जब कभी उन्हें अवसर मिलता, वे दयानन्द के जीवन-नाटक के इस अन्तिम दृश्य का बार-बार अत्यन्त भावुक मन से श्रद्धापूर्वक चिन्तन करते थे। गुरुदत्त के अतिरिक्त मृत्यु और यन्त्रणा से इतना लोलुपतायुक्त प्यार और कौन करेगा ?

ज्यों ही पं० गुरुदत्त की महान् आत्मा इस नरवर शरीर को छोड़कर परम पिता के चरणों में पहुँची, उनके निधन का समाचार नगर की उस प्रत्येक गली और मोहल्ले में पहुँच गया जहाँ एक भी आर्य का निवास था। कुछ घण्टों में तो वह संवाद भीषण अग्नि की भाँति सारे शहर में फैल गया। डी० ए० बी० कालेज में उस दिन अवकाश घोषित कर दिया गया। हालाँकि उस दिन रविवार या कोई छुट्टी का दिन नहीं था, किन्तु हमारे दिवंगत भ्राता के घर के आगे नौ बजते-वजते लगभग पाँच सौ, छः सौ लोगों की भीड़ जमा हो गई। सभी लोग उदास तथा दुखी थे। लोगों के मुँह से बोल भी नहीं निकल रहे थे और वे इस महान् क्षति को गहराई से अनुभव कर रहे थे। कुछ लोग आँसू बहा रहे थे तो कुछ अन्य इस महान् युवा पुरुष की उपलब्धियों की चर्चा कर रहे थे। अहा, उनकी वृद्धा माता के कारण क्रन्दन को सुनने की शक्ति किसमें थी ! उनके अन्य पुत्रों में अकेले गुरुदत्त ही बचे थे। प्रौढ़ावस्था में उत्पन्न यह उनकी सन्तान थी। पुत्र के प्रति माता के प्रेम को तीनों नापना भी कठिन होता है, और यह तो वह पुत्र था, जिसे माता ने जीवन के सन्ध्या काल में पाया था। इस अत्यन्त सम्मानास्पद पुत्र के प्रति माँ का प्यार अत्यन्त गहरा तथा दिव्य था। ओह माँ, तुम्हारा महत्त्व तो हमारे लिए और भी अधिक है, क्योंकि तुमने गुरुदत्त जैसी दिव्य आत्मा को जन्म दिया। पुत्र की मृत्यु से जो क्षति तुम्हें पहुँची है उसका अनुमान तो कोई माता ही कर सकती है। किन्तु तुम चिन्ता मत करो, तुम्हारा पुत्र कहीं गया नहीं है, वह अपने उत्पन्नकर्ता परमात्मा की गोद में है। किन्तु वह उस अनन्त आनन्द को छोड़कर पुनः कभी संसार में जन्म भी लेगा,

तो एक सच्चे ऋषि के रूप में ही हमारे बीच में आएगा और उससे लाखों व्यक्तियों का उद्धार होगा ।

लगभग १० बजे उनके शव को श्मशान में ले जाने की तैयारी आरम्भ हुई । कुछ लोगों का विचार था कि चिर निद्रा में विलीन उस दिवंगत महापुरुष का अन्तिम चित्र ले लिया जाए । इससे सम्भवतः लोगों को यह सीख मिलेगी कि मनुष्य की सारी महत्ता भी नश्वर ही है और वास्तव में तो परमात्मा और उसकी महानता ही चिरस्थायी है । किन्तु इस प्रस्ताव का अनेक दृष्टियों से विरोध भी किया गया । प्रस्तावकों ने इस बात पर ही जोर दिया कि शव को अग्नि में समर्पित किये जाने के समय समस्त उपस्थित समुदाय सहित इस दृश्य का चित्र लिया जाय । यद्यपि इसमें आपत्ति जैसी कोई बात नहीं थी, किन्तु इसमें विशेष लाभ की बात नहीं देखी गई; क्योंकि स्वर्गवासी पं० गुरुदत्त के फोटो तो पहले से ही उपलब्ध थे और जो लोग उनके जीवन से कुछ सीखना चाहते थे उनके लिए तो पं० गुरुदत्त के जीवन की कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाएँ ही लाभप्रद हो सकती हैं । लगभग साढ़े दस बजे शवयात्रा आरम्भ हुई । लोगों की संख्या सात सौ तक पहुँच गई । शाहूआलमी बाजार से होकर जब जुलूस गुजरा तो लोगों की तादाद और बढ़ी । बाजार के दोनों ओर की दूकानों के बाहर लोग पंक्तिबद्ध खड़े थे । समाज की भजनमण्डलियों तथा डी० ए० वी० छात्रावास के लड़कों द्वारा भजन गाये जा रहे थे और वेद मन्त्रों का पाठ हो रहा था । सभी लोग इन भजनों और मन्त्रों की प्रासंगिकता की दाद दे रहे थे तथा इस बात पर हार्दिक दुःख प्रकट कर रहे थे कि इतना योग्य व्यक्ति और संस्कृत का ऊँचा विद्वान् मात्र मन्चीस वर्ष की आयु में ही परलोक प्रस्थान कर गया । बाजार की छतों पर से शव पर पुष्पवर्षा की गई । दो घण्टों तक चलने के बाद जब शव-यात्रा खुली जगह पर पहुँची तो उपस्थिति एक हजार तक पहुँच गई । लगभग एक बजे शव को श्मशानस्थल पर लाया गया । तत्पश्चात् वेदी बनाई गई और संस्कारविधि में वर्णित पद्धति से अन्त्येष्टि सम्पन्न हुई । लगभग ६० रुपये मूल्य की सामग्री तथा घी का उपयोग किया गया । जब शव-दाह लगभग पूरा हो गया तो लाला हंसराज ने संयोजित प्रार्थना की और लोग स्नान करके घर लौटने लगे ।”

ट्रिब्यून ने अपने १६ मार्च १८६० के अंक में पं० गुरुदत्त के निधन

की सूचना देते हुए लिखा कि मृत्यु के क्रूर हाथों ने पंजाव के एक होनहार पुत्र को हमसे छीन लिया है। २२ मार्च के अंक में इस पत्र ने पं० गुरुदत्त के बारे में एक और विस्तृत लेख लिखा। इसमें से निम्न उद्धरण मैं यहाँ प्रस्तुत करता हूँ—

“हमने अपने पत्र के एक पिछले अंक में पं० गुरुदत्त विद्यार्थी एम० ए० की दुःखद मृत्यु का समाचार प्रकाशित किया था। उनके निधन ने पंजाव में सर्वत्र शोक की लहर उत्पन्न कर दी। वे अपार सम्भावनाओं वाले व्यक्तित्व के धनी थे। आर्यसमाज के लिए यह क्षति अपूरणीय ही है क्योंकि वे इस संस्था के एक ज्वलन्त नक्षत्र थे। देश को भी उनके निधन के कारण अपार हानि हुई है।” उनके जीवन की कुछ घटनाओं को निबद्ध करने के पश्चात् यह पत्र पुनः लिखता है—“अपनी बौद्धिक उपलब्धियों के कारण वे आजीविका के लिए किसी भी क्षेत्र को चुनकर उसमें सफलता प्राप्त कर सकते थे, किन्तु उन्होंने शोर-शराबे से भरे बाह्य संसार की अपेक्षा अध्ययन के शान्त क्षेत्र को ही चुना। उन्होंने संस्कृत के पुरातन साहित्य के स्वाध्याय में अपने आपको लगा लिया। इसमें वे अभी आश्चर्यजनक प्रगति कर ही रहे थे कि परमात्मा ने उन्हें अपने पास बुला लिया। उनमें अपार शक्ति निहित थी। वस्तुतः उनके इस अग्नितुल्य व्यक्तित्व में निहित शक्ति ने ही उनके शरीर का शोषण कर लिया, जिससे उनकी शारीरिक क्षमता नष्ट हो गई। काम के अनन्तर आराम करना तो वे जानते ही नहीं थे। वे लगातार ८ से लेकर १० घण्टों तक पढ़ते रहते, सायंकाल अपने घर में ही आरम्भ की गई कक्षा में संस्कृत पढ़ाते और देर रात तक अनेक धार्मिक और सैद्धान्तिक प्रश्नों पर उन लोगों से वाद-विवाद करते, जो इसीलिए उन्हें घेरे रहते थे। यह सारा परिश्रम उनके फौलादी शारीरिक ढाँचे को बिखेर देने के लिए पर्याप्त था। परन्तु बात उतनी ही नहीं थी। वे अंग्रेजी और हिन्दी के प्रभावशाली वक्ता भी थे और इस क्षेत्र में उनकी सेवाएँ आर्यसमाज द्वारा लगातार ली जाती रहीं। शायद ही कोई महीना जाता, जब वे कोई परिष्कृत वक्तृता न देते हों। और उनके इस व्याख्यान के एक-एक वाक्य पर आर्यसमाजी बन्धु बाद में कई महीनों तक चिन्तन करते रहते। डी० ए० वी० कालेज आन्दोलन को जो अपार सफलता मिली, उसमें उनकी प्रभावशाली अपीलों का बड़ा

योगदान था। वे अतिशय कल्पनाशील, व्यापक बौद्धिक क्षमतायुक्त तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण के व्यक्ति थे। धार्मिक शास्त्रार्थ में उनकी बराबरी करने वाले इस देश में बहुत कम लोग थे। उनकी बाह्य और बौद्धिक शक्तियों का व्यवस्थित रूप से विकास हुआ था। उनकी शारीरिक और मानसिक प्रवृत्तियों में पूर्ण सन्तुलन था। उनकी जीवन प्रणाली अत्यन्त सादगीपूर्ण और प्रायः तपस्वी जैसी थी। उनका सदा मुस्कराता रहने वाला चेहरा, जिससे प्रतिभा की किरणें विकीर्ण होती रहती थीं, उनके सहानुभूतिपूर्ण एवं निष्कपट हृदय का सच्चा प्रतिबिम्ब था। वे आर्यसमाज के संगठन के शक्तिशाली धड़े से कभी नहीं जुड़े, तथापि संस्था के अधिकारी-वर्ग पर उनका अद्वितीय प्रभाव था क्योंकि वे स्वार्थरहित भावना से कार्य करते थे। उनके निधन के समाचार के प्रसारित होने पर सर्वत्र शोक और दुःख के जो उद्गार प्रकट किये गये, उसी से पता चलता है कि देशवासियों के दिलों में उनका कितना ऊँचा स्थान था। उन्होंने अपने लिये कभी नहीं सोचा अपितु निष्ठापूर्वक आर्यसमाज के लिए ही कार्य किया। उनकी यह हार्दिक मान्यता थी कि आर्यसमाज का काम देश का ही काम है और इस धारणा के साथ वे अपनी सम्पूर्ण आत्मा, मन तथा शक्ति से बँधे हुए थे। उनके जीवन के अन्तिम दिन उनकी शान के ही अनुकूल थे। वे लगभग तीन महीनों तक रोग शय्या पर रहे और पिछले कुछ दिन तो उन्हें निरन्तर कष्ट ही देते रहे। क्षय के रोग में प्रत्येक साँस भी पीड़ादायक हो जाती है, किन्तु उनकी सहन-शक्ति भी असाधारण थी। उनके मुँह से आह तक नहीं निकली और अभी उनके जीवन ने २६ वसन्त ही देखे थे कि वे क्रूर काल के शिकार हो गये।”

पं० गुरुदत्त की मृत्यु पर दि टू लाइट (The True Light) नामक एक ईसाई पत्र ने निम्न प्रकार लिखा। इसका सम्पादन दिल्ली मिशन कॉलेज के प्रिंसिपल रेवरेण्ड आलनट एम० ए० तथा लाहौर मिशन कॉलेज के प्रिंसिपल रेवरेण्ड जे० सी० आर० ईविंग डी० डी० संयुक्त रूप से करते हैं। “लाहौर आर्यसमाज के प्रमुख सदस्य पं० गुरुदत्त का एक लम्बी बीमारी के पश्चात् स्वर्गवास हो गया। वे सार्वजनिक अभिरुचि के व्यक्ति थे तथा अपने देशवासियों की प्रगति में उनकी गहरी रुचि थी। वे कुछ समय तक गवर्नमेंट कॉलेज लाहौर में भौतिकी

के सहायक प्रोफेसर पद पर रहे और कुछ काल के लिए उस डी० ए० वी० कॉलेज में भी उन्होंने अध्यापन किया, जिसकी स्थापना में उनका प्रमुख हाथ था। वे अत्यन्त परिश्रमी तथा लगनशील विद्यार्थी थे। समसामयिक प्रश्नों की उन्हें विस्तृत जानकारी थी। संस्कृत विद्वान् के रूप में भी उनकी ख्याति थी। उन्होंने अपने श्रम से सामवेद संहिता और वैशेषिक के प्रशस्तपाद भाष्य का सम्पादन किया तथा कुछ उपनिषदों के अनुवाद भी किये। उनके शिष्टतापूर्ण व्यवहार, मिलनसारिता तथा निष्कपट आचरण ने उन्हें सबका प्रिय बना दिया था। यद्यपि हम उनकी सम्पूर्ण विचारधारा से सहमत नहीं हैं, तथापि अपने विचारों के प्रति उनकी ईमानदारी तथा विरोध की परवाह किये बिना उनको प्रचारित करने में उनके साहस की हम प्रशंसा करते हैं।”

लाहौर के ‘सिविल एण्ड मिलिटरी गजट’ ने उनके बारे में लिखा — “गवर्नमेंट कॉलेज लाहौर में कुछ काल तक विज्ञान के प्रोफेसर के पद पर कार्य करने वाले पं० गुरुदत्त विद्यार्थी एम० ए० का इस मास की १६ तारीख को निधन हो गया। स्वर्गवासी महानुभाव संस्कृत के माने हुए विद्वान् तथा कट्टर सुधारक थे। वे आर्यसमाज के उत्साही सभासद थे और कुछ समय पहले ही उन्होंने वैदिक मंगजीन का प्रकाशन आरम्भ किया था। इस पत्र में वेदों की उत्तम व्याख्याएँ छपती थीं। पं० गुरुदत्त समाज के सभी वर्ग के लोगों द्वारा आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। कहा जाता है कि पंजाब विश्वविद्यालय ने उनके जैसा संस्कृत का विद्वान् अद्यापि उत्पन्न नहीं किया। उनके निधन के कारण हुई क्षति को नगरवासियों ने गम्भीरता से अनुभव किया और उनके स्वर्गवासी होने के दिन लाहौर की सब शिक्षण संस्थाएँ बन्द रहीं। उनकी शवयात्रा में लगभग १००० लोग सम्मिलित हुए। जब लाहौर की गलियों से होती हुई उनकी अर्थांश्मशान की ओर ले जाई जा रही थी, तो साथ चलने वाले लोग भजन गान तथा वेदमन्त्रों का उच्चारण कर रहे थे। २२ तारीख को आर्यसमाज मन्दिर में पं० गुरुदत्त की मृत्यु पर दुख प्रकट करने के लिए शोक-सभा आयोजित की गई। इसमें उनके मित्रों ने स्वर्गीय आत्मा को भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की तथा उनकी स्मृति में बागवानपुरा में एक कन्या पाठशाला स्थापित करने का निश्चय हुआ। एतदर्थ धन

भी इकट्ठा किया गया ।”

प्रायः सभी भाषाई अखबारों ने अत्यन्त करुणापूर्ण शब्दावली में उनकी मृत्यु का समाचार प्रकाशित किया और इस पर अपने सम्पादकीय भी लिखे । मैं उन लोगों को धन्यवाद देना चाहता हूँ, जिन्होंने पं० गुरुदत्त की मृत्यु पर उनके सम्मान में अपने स्कूलों और कालेजों में अवकाश घोषित किया । हम विशेष रूप से उन अंग्रेज अधिकारियों के आभारी हैं, जिन्होंने अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को पं० गुरुदत्त की अन्त्येष्टि में सम्मिलित होने की इजाजत देकर उस दिवंगत देश-भक्त के प्रति अपना सम्मान प्रकट करने का अवसर दिया । कई दिनों बाद तक शोक-संवेदनासूचक तारों के आने का सिलसिला जारी रहा । उनकी स्मृति में की जाने वाली शोक-सभाओं के विवरण भी प्रकाशनार्थ आये । स्थानाभाव के कारण यह सब वृत्तान्त यहाँ देना सम्भव नहीं है । इसके तुरन्त पश्चात् इस बात पर सहमति हुई कि पं० गुरुदत्त की स्मृति में एक निधि कायम की जाय । इससे उनके बच्चों की शिक्षा तथा परिवार की आर्थिक सहायता हो सकेगी । सहायतानिधि का मूल प्रस्ताव ६००० रुपये एकत्र करने तक ही सीमित था, किन्तु मुझे यह घौषणा करते हुए प्रसन्नता होती है कि कुछ महीनों में ही ६००० से अधिक की रकम एकत्र हो गई । बागवानपुरे में एक लड़कियों का स्कूल तथा धर्मशाला में पं० गुरुदत्त विद्यार्थी बायज स्कूल उनकी स्मृति में आरम्भ किये गये । इस प्रकार एक महान् जीवन का अन्त हुआ । भारत माता अपने इस तेजस्वी पुत्र के वियोग में हतभागिनी-सी रुदन करती रही । भगवान् उस आत्मा को शान्ति दे जिसने इस भौतिक संसार में स्वल्प काल के लिए भी विश्राम नहीं किया था ।

वे अपने पीछे वृद्धा माता, युवती विधवा पत्नी तथा दो छोटे पुत्रों को छोड़ गये ।

अध्याय ६

पं० गुरुदत्त का स्वभाव और आचरण

इस अध्याय में जो कुछ लिखा जा रहा है वह वैयक्तिक अनुभवों पर आधारित है। इसकी पुष्टि स्वर्गीय गुरुदत्त की डायरियों की प्रविष्टियों तथा अन्य मित्रों के साक्ष्य से होती है।

बिना किसी प्रतिरोध के मैं यह कहने की स्थिति में हूँ कि पं० गुरुदत्त विद्यार्थी अत्यन्त अनियमित प्रकृति के थे। उनके जीवन में नियमितता कहीं नहीं थी, न सोने में, न पढ़ने में, न व्यायाम में और न लिखने या खेलने और न ही शय्या त्यागने में। अनियमितता उनके जीवन का अभिशाप थी। उनकी सफलता का राज यही था कि वे प्रत्येक काम को कर सकते थे और हर काम में अनियमितता उनकी शीघ्र मृत्यु का कारण बनी। यदि उन्हें सोने का खन्त सवार होता तो चौबीस घण्टे या कई-कई दिनों तक सोते रहते। भोजन के लिए उठते और फिर सो जाते। यदि पढ़ने लगते तो रातों जगकर पढ़ते रहते। घूमने के लिए निकलते तो मीलों तक चले जाते, बिना इस बात की चिन्ता किये कि उन्होंने कितना फासला तय कर लिया है। किन्तु यदि अपनी जगह से इंच भर भी न हिलने का सोच लेते, तो लगातार कई दिनों तक कहीं नहीं जाते। हाँ, कालेज जाना और आना अवश्य होता।

अपनी डायरियों में अपने जीवन की अनियमितताओं का उन्होंने बहुत बार उल्लेख किया है। सोने, जगने, पढ़ने और व्यायाम आदि में जो वे अनियमित रहते हैं, इसे लेकर उन्होंने खुद की शिकायत खुद से ही की है तथा आत्म-निन्दा भी की है। इनमें से मैं किसे लूँ और किसे छोड़ूँ, अतः इनका उल्लेख न करना ही ठीक है। जहाँ तक भोजन का सवाल है वे दो-तीन बातों में ही सावधान दिखाई पड़ते हैं—(१) मदिरा का प्रयोग न करना, (२) मांसाहार से पूर्ण पृथक् रहना, (३) क्रम से जो साग-सब्जियाँ या अन्य पदार्थ परोसे जायें उन्हें खा लेना।

एक मित्र ने, जो उनके साथ कई वर्ष तक रहा था, बताया कि एक बार तो लगातार दो महीने तक उन्होंने दूध और बिस्कुटों के अलावा और कुछ नहीं खाया और यह भी तब, जब वे गवर्नमेंट कालेज में प्रोफेसर थे। कारण सिर्फ इतना ही था कि वे अपने नौकर को बीमार पिता के पास मुलतान छोड़ आये थे और दूसरा नौकर लगाया नहीं था। शराब या अन्य मादक पदार्थों का सेवन उन्होंने नहीं किया। वे इससे घृणा करते थे। लेखक की उनसे अत्यन्त घनिष्ठता थी अतः वह निस्संकोच कह सकता है कि उन्होंने कभी किसी मादक द्रव्य का सेवन नहीं किया।

जहाँ तक कपड़ों का सवाल है, उनकी पोशाक होती तो सादी थी, किन्तु वे इस मामले में भी पूर्णतया उदासीन थे। कपड़ों का प्रयोग वे जीवन की आवश्यकता की दृष्टि से करते थे, शरीर को सजाने या विलास के लिए नहीं। हर कोई जानता है कि कपड़ों के मामले में उनकी रुचि विचित्र ही थी। लाहौर की सर्दियों में उनकी पोशाक साधारण सूती कपड़ों की होती—एक कमीज, एक जाकेट, एक कोट तथा छोटी टोपी। जहाँ तक बिस्तर का सवाल है, मुलतान में बनी एक हल्की-सी दरी तथा एक उम्दा शाल को ही काम में लेते। कोई भी मेरे इस कथन को अतिरंजित नहीं समझे क्योंकि १८८० से लेकर १८८६ के आरम्भ तक लेखक ने स्वयं यह सब अपनी आँखों से देखा है। एक-दो बार जब मुझे उनके घर पर सोने का अवसर मिला तो उनके यहाँ कम्बलों के न होने के कारण मैं तो सारी रात सर्दी से परेशान होकर जागता रहा, जबकि वे निःशंक सोते रहे और आभास तक नहीं होने दिया कि उन्हें सर्दी सता रही है। इसके विपरीत गर्मी के मौसम में जबकि लाहौर में दोपहर को भीषण धूप रहती, हम उन्हें गरम कश्मीरे के सूट तथा जाकेट पहने देखते। इन दिनों वे रात में कम्बल ओढ़ते। अपने जीवन के अन्तिम दो-तीन वर्षों में अपने शरीर की बिगड़ती दशा को लक्षित कर उन्होंने इस प्रकार की कठोर तपस्या को छोड़ दिया था। लगातार किये गये कठोर परिश्रम तथा मित्रों द्वारा किये गये उपहास ने भी उन्हें अपने इन विचित्र नियमों को तोड़ने के लिए मजबूर किया।

कभी-कभी तो वे अपने कपड़ों के प्रति इतने लापरवाह हो जाते कि लगातार गन्दे वस्त्र पहनते रहते। वे किसी खास फैशन के अनुयायी

तो थे नहीं, और न किसी विशेष पोशाक में उनकी रुचि ही थी। लाहौर आने के बाद वे पाजामे के वनिस्पत पतलून का प्रयोग करने लगे थे क्योंकि उनके अनुसार पाजामे की अपेक्षा पतलून आदमी को अधिक फुर्तीला तथा गम्भीर बनाये रखता है। वस्त्रों के मामले में वे किसी खास राष्ट्रीयता के भाव को नहीं मानते थे और हर व्यक्ति को अपनी रुचि की पोशाक पहनने की इजाजत देते थे। वे तो केवल भड़कीली पोशाक पहनने पर ही आपत्ति करते थे। उनका विचार था कि वस्त्र सादे होने चाहिए। वे प्रायः कहा करते थे कि समाज हमें किसी खास पोशाक पहनने या फैशन को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। हाँ, यह अवश्य है कि हमारे कपड़े स्वच्छ और शालीन होने चाहिए। कइयों की धारणा थी कि पोशाक के मामले में अपने को प्रगतिशील दिखलाने के विचार से ही वे ऐसी आधी अधूरी अंग्रेजी लिबास धारण करते थे। सवाल तो इतना ही है कि इस विषय में उनकी धारणाएँ क्या सब प्रकार से ठीक ही थीं और क्या उन्हें वांछनीय कहा जा सकता है? कभी-कभी वे जूट-पटाँग ढंग के कपड़े पहने रहते। उदाहरण के लिए सदा न पहने जाने वाले विश्वविद्यालय के चोगे को पहनना क्या अटपटी पोशाक नहीं कही जायगी?

जब उन्होंने हल्की दरी और पतली चदर का प्रयोग छोड़ दिया तो वे इंगलिस्तान में बनी एक कम्बल का प्रयोग करने लगे। इसी में अपने को लपेटकर सो जाते। सफर के दौरान भी यह कम्बल उनके साथ ही रहता, चाहे सर्दी हो या गर्मी। अपनी आदतों और स्वभाव में वे सर्वथा सरल तथा आडम्बररहित थे। एक बार लगातार दो मास तक उनका नौकर कहीं चला गया तो वे रोज अपने कपड़े खुद ही धो लेते।

शायद उनके इस विवरण को पढ़कर कोई उन्हें कंजूस समझने की भूल कर सकता है। इस आशंका का निराकरण करते हुए मैं यह स्पष्ट कह दूँ कि वे कृपण स्वभाव के कदापि नहीं थे। वस्तुतः धन को तो वे वस्तु विनिमय का साधन ही समझते थे, अतः धन को एकत्र करने की प्रवृत्ति उनमें बिल्कुल नहीं थी। वस्तुतः सार्वजनिक हित के अतिरिक्त धन एकत्र करना उनकी दृष्टि में पाप था। उन्हें मिलने वाले प्रत्येक पैसे को वे खर्च कर देते। जब कभी वे अपने किसी मित्र, विद्यार्थी या अन्य किसी व्यक्ति को पैसा देते तो यह मानकर ही देते कि वे इसे उधार रूप में नहीं दे रहे हैं अतः उसे पुनः वसूल करने की

उन्हें कोई चिन्ता ही नहीं रहती। निश्चय ही वे द्रव्य की सहायता अपने मित्रों और साथियों को देते ही रहते थे। शर्त यही थी कि पैसा उनके पास रहे और लोग उनसे माँग लें। पैसे का हिसाब वे रखते ही नहीं थे। एक को छोड़कर कोई अन्य नौकर ही नहीं रक्खा। ऐशोआराम में वे कभी पड़े ही नहीं। हाँ, बौद्धिक विलास को तो अपवाद ही मानना होगा। दूसरे को पीड़ा पहुँचाना उनकी प्रकृति में ही नहीं था। इसके विपरीत वे अत्यन्त उदार थे। अपने सीमित साधनों से बाहर जाकर भी वे कई बार जरूरतमन्द छात्रों की सहायता करते और उनका खर्चा उठाते।

प्रोफेसर बन जाने के बाद भी उनके रहन-सहन के ढंग में थोड़ा भी परिवर्तन नहीं आया। वे उसी घर में अन्त तक रहे जो उनके पास तब से था, जब वे एम० ए० के विद्यार्थी बनकर लाहौर आये थे। उनकी कमाई का अधिकांश पुस्तकें खरीदने में खर्च होता और कुछ को छोड़कर इन्हें पढ़ने के बाद वे इनकी साज-सँभाल भी नहीं करते। कुछ संस्कृत की पुस्तकों तथा एण्ड्रू जैक्सन डेविस की ग्रन्थावली को ही उन्होंने सँभाल कर रक्खा। यदि उन्हें कभी रुपया उधार लेने की जरूरत पड़ती, तो अपने गिने-चुने मित्रों से ही लेते और उसे चुकाना नहीं भूलते। उनका स्वभाव सौम्य एवं स्नेहपूर्ण था तथा व्यवहार आनन्दकारी। अपने अधीनस्थों और शिष्यों को वे पितृवत् प्यार करते। उनके साथ बाल-सुलभ संरलता से घण्टों तक बातें करते या खेलते। कठोर शब्द तो कभी उनके मुँह से निकलता ही नहीं था।

औपचारिक शिष्टाचार दिखाने से उन्हें घृणा थी। इसलिए जब वे पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश की आर्यसमाजों में प्रचारार्थ जाते, तो शायद वहाँ के लोग उन्हें अशिष्ट ही समझते होंगे। उन्हें समाज में जैसी प्रतिष्ठा प्राप्त थी, उसके कारण उन्होंने कभी गर्व का अनुभव नहीं किया। अपने स्वभाव और लहजे में वे कभी उग्र नहीं थे।

शारीरिक व्यायाम का उन्हें बहुत शौक था और वे जिमनास्टिक में निपुण थे। तेज चलने और दौड़ने में उन्हें दक्षता प्राप्त थी, कभी-कभी तो वे जाने-पहचाने तेज धावकों को भी पीछे रख देते। गवर्नमेंट कॉलेज में जब वे पढ़ते थे तब क्रिकेट टीम के प्रथम ग्यारह खिलाड़ियों में उनकी गणना होती थी। स्नान में बहुत दिलचस्पी लेते थे और सर्दियों समेत प्रायः वर्ष-भर दिन में दो बार ठण्डे पानी से नहाने का उनका नियम था।

अध्याय १०

पं० गुरुदत्त का लेखन कार्य

अपने विद्यार्थी काल में ही पं० गुरुदत्त विद्यार्थी ने निश्चय कर लिया था कि वे अपने जीवन को मानवता की सेवा में बितायेंगे। इस लक्ष्य की पूर्ति तभी सम्भव थी, यदि संसार को वेदों की पवित्र और प्रेरणादायी शिक्षा दी जाये। अधःपतित भारत को पुनः जागृत करने की चर्चा करते समय वे इसके लिए बताये जाने वाले कतिपय प्रचलित उपायों के प्रति अपना पूर्ण अविश्वास प्रकट करते। जो लोग भौतिकता प्रधान पश्चिम से ग्रहण की गई शिक्षा को भारत की उन्नति का उपाय बताते, उनसे उनकी कभी सहमति नहीं हुई। उनका कहना था कि समाज को आज वास्तविक सुधार की आवश्यकता है। इसके लिए जनसाधारण में प्रचलित विश्वासों और भावनाओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करना ही काफी नहीं है तथा प्रचलित विचारों और अनुभूतियों के अनुकूल स्वयं को बनाने से भी काम नहीं चलेगा। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि दुनिया को हम बतायें, वह कहाँ गलत है और कैसा अधर्माचरण कर रही है। उनका सुविचारित विश्वास था कि भारत का सुधार शिक्षा पर ही निर्भर है। ऐसी शिक्षा, जो लोगों को शान्तिपूर्ण प्रगति के रास्ते पर चलना सिखाये, तथा संकीर्ण पार्टीबन्दी तथा साम्प्रदायिकता से मुक्त करे। ऐसी शिक्षा जो लोगों को अन्यो के लिए जीना सिखाये, बिना कोई गोपनीयता अपनाये, प्रेम की उदीप्त भावना से प्रेरित अनुशासनबद्ध होकर प्रगति को लक्ष्य मानते हुए चलना सिखाये। शिक्षा के बारे में उनका विचार था कि इससे हम यह अनुभव करें कि जीवन ध्येयनिष्ठ होकर जीने का नाम है, अतः कर्तव्य पालन ही सर्वोच्च नियम है। उनका कहना था कि शिक्षा के द्वारा हम प्राणिमात्र की एकता को पहचानें, इसके द्वारा मानवी प्रकृति की सुप्त शक्तियों और प्रवृत्तियों को जागृत और विकसित किया जाये, ताकि मानवता का सन्तुलित और समग्र विकास सम्भव हो सके।

आर्यसमाज का छठा नियम इसी आदर्श की ओर संकेत करता है—
 “संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।”

वे शिक्षा की उस प्रणाली को पसन्द नहीं करते थे जो आज की भाँति केवल वकील, मैजिस्ट्रेट, डाक्टर और पूंजीपति व्यापारियों को ही पैदा करती है। ऐसे वर्गों के लोगों की संख्या तो इस देश में दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है। उन्होंने इन व्यवसायों को चुना ही इसलिए है ताकि उस चमकीले स्वर्ण को एकत्र करें जो किसी पीलिया-ग्रस्त रोगी की दृष्टि को सबसे अधिक आकर्षक दिखाई देता है। उन्हें ऐसी शिक्षा से नफरत थी जो धन की चमक-दमक से प्यार करना सिखाती है, जो ऊँचे पदों और धन के लिए संघर्ष की सीख देती है। यह शिक्षा उन भौतिक सुखों और सम्पत्ति में ही विश्वास पैदा करती है जिसने मनुष्य के हृदय से देशभक्ति के भावों को नष्ट कर दिया है तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों की शक्ति देने वाले आत्म तत्त्व का जो पूर्ण रूप से तिरस्कार करती है। इस शिक्षा पद्धति ने प्रतियोगिता और जद्दोजहद को सारे युगों और सभी लोगों के लिए संघर्ष का नारा-सा बना दिया है। इसने धनियों में गरीबों का शोषण करने की प्रवृत्ति पैदा की, इसने लोगों को अपने पड़ोसी के मुँह का ग्रास छीनने के लिए कहा। अन्ततः यही शिक्षा नीति देश के नागरिकों में व्याप्त भ्रातृभाव को नष्ट कर अपने ही देश को परस्पर शत्रु माननेवाले तथा तदनुकूल आचरण करने वाले लोगों की पृथक् इकाइयों में बदल देती है।

हाँ, यह सही है कि वे इस शिक्षा पद्धति से घृणा करते थे जो लोगों को अपनी ही भौतिक सुख-सुविधाओं का ध्यान करना सिखाती है और उन्हें प्राप्त करने के लिए किसी भी साधन को अपनाने की इजाजत देती है। उनके जीवन का लक्ष्य एक ऐसी पवित्र शिक्षा-पद्धति की स्थापना करना था जो प्राचीन ऋषियों द्वारा प्रवर्तित की गई और स्वामी दयानन्द ने जिसे पुनः प्रचारित किया था। संस्कृत के उस पावन और पुरातन क्षेत्र को अन्वेषित करने की उनकी प्रबल रुचि थी जिसमें प्रकृति और उसके नियन्ता परमात्मा का दुर्बोध ज्ञान प्रचुर मात्रा में विद्यमान है।

उन्होंने अपने समक्ष जिन ऊँचे और कठिन लक्ष्यों को स्थिर किया

था, उनको प्रचारित करने के लिए ही उन्होंने वैदिक-मैगजीन निकाली। इसका उनके लेखों और प्रवचनों में सर्वत्र उल्लेख हुआ है। वैदिक-मैगजीन के प्रथम अंक में उन्होंने इस पत्र के ध्येय का वर्णन निम्न प्रकार से किया—“इस पत्र का उद्देश्य लोगों की वेदों में नित्य प्रति पैदा होने वाली रुचि को पूरा करना है। इसके लिए वैदिक साहित्य के विभिन्न अंशों की आलोचना, अनुवाद, सार संक्षेप तथा समीक्षाएँ प्रस्तुत की जायेंगी। आज के इस बाह्य प्रवृत्ति प्रधान युग में वैदिक दर्शन में निहित सत्य का दर्शन कराना और वेदों के उदार तथा परोपकार प्रधान धर्म से पाठकों को परिचित कराना भी इस पत्र का उद्देश्य है, ताकि लोग यह जानें कि वेद प्रतिपादित धर्म संसार में प्रचलित संकीर्ण साम्प्रदायिक तथा मानवता विरोधी मतों से नितान्त विपरीत है। यह पत्र उन अन्धविश्वासों पर प्रहार करेगा जो पुराने होने पर भी अज्ञान पर आश्रित हैं। हमारा उद्देश्य केवल सामयिक प्रयोजन सिद्ध करनेवाले तथा जन सामान्य की भावुकता को उभारने-वाली नीतियों पर आश्रित सुधारों की अपेक्षा वास्तविक सुधारों को व्याख्यान करना है। शास्त्रार्थ युक्त लेखों और समीक्षाओं को प्रकाशित कर वेदों के पवित्र और आडम्बरशून्य सत्य को जीवित रखना हमारा लक्ष्य है। अन्त में हम यह कहना चाहते हैं कि वैदिक मैगजीन का उद्देश्य स्वार्थी पुरोहितों और याज्ञिकों, विद्या का आडम्बर करने वाले भाषा-वैज्ञानिकों तथा छिछले भौतिकवादियों द्वारा वेदार्थ को जान-बझकर विकृत किये जाने के प्रयासों को समाप्त करना है।”

इसीलिए हम देखते हैं कि उनका प्रथम महत्त्वपूर्ण साहित्यिक प्रयास वैदिक पदों के अर्थ करने की प्रणाली की व्याख्या करना तथा तद्विषयक नियमों का निर्धारण करना ही रहा।

महान् सुधारक स्वामी दयानन्द की भाँति पं० गुरुदत्त भी भारत के सर्वतोमुखी पतन तथा प्राचीन आर्यों के वंशज हिन्दुओं में व्याप्त सभी बुराइयों का मूल वेदार्थ के अयथार्थ प्रस्तुतीकरण को ही मानते थे। प्रायः हिन्दुओं के प्रत्येक वर्ग की यह धारणा है कि वेद सभी सत्य ज्ञान एवं विद्याओं का मूल स्रोत है अतः इनकी यथार्थ व्याख्या का महत्त्व तो प्रत्येक हिन्दू के लिए अनिवार्य ही है। अपितु, संसार के अन्य विद्वानों के लिए भी वेदों की सही व्याख्या सर्वोपरि महत्त्व

रखती है क्योंकि इन्हें संसार के पुस्तकालय का सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ तो सभी ने स्वीकार किया ही है।

यूरोपियन विद्वानों का भी विश्वास है कि वेद संसार के सबसे प्राचीन धर्म ग्रन्थ हैं। इनमें (उनके अनुसार) परमात्मा के प्रति मानवी हृदय के प्राचीनतम उत्कण्ठापूर्ण उद्गार प्रकट हुए हैं। इन्हीं में मनुष्य का आदिम धर्म तथा उसकी सर्वोच्च विकसित सभ्यता का भी चित्रण हुआ है। अतः वेदों के वास्तविक अभिप्राय को जानना व्यापक मानवता के हित में ही है। मनुष्यता को पीड़ित करनेवाले प्रायः सभी धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक अभिशापों का सही इलाज वेदों में बताया गया है। अतः आज की पीड़ित मानवता के लिए वेदों का सही अध्ययन सर्वोपरि महत्त्व रखता है। मैक्समूलर भी यह मानता है कि “हम यूरोपवासी आज तक यूनानियों, रोमवासियों तथा सैमेटिक नस्ल के यहूदियों द्वारा प्रतिपादित विचारों को ही अपना मानसिक भोजन मानकर उस पर पलते रहे, किन्तु यदि हम वैदिक विचारधारा को अपना लें तो हमारा आन्तरिक जीवन अधिक परिपूर्ण, अधिक विश्वजनीन तथा सच्चे अर्थों में मानवीय बन सकता है। उस स्थिति में हमारा वर्तमान जीवन शाश्वत जीवन में परिणत हो जायगा।” इस प्रकार जिन वेदों को साहित्य का पावनतम अंश कहा गया है, उनके अर्थों को सही तौर पर समझना यूरोपीय दुनिया के लिए भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इन्हीं कारणों से पं० गुरुदत्त ने भी अपने सर्वाधिक आदरणीय गुरु स्वामी दयानन्द का पदानुसरण करते हुए वैदिक पदों की व्याख्या पर ही सर्वप्रथम ध्यान दिया।

१८८५ में जब वे गवर्नमेंट कॉलेज लाहौर के विद्यार्थी ही थे, उन्होंने ‘वैदिक संज्ञा विज्ञान’ शीर्षक एक निबन्ध लिखा। यह आर्य-पत्रिका के ११ जुलाई (अंक-४) एक अगस्त (अंक-७), १९ सितम्बर (अंक-१४) तथा १९ अक्टूबर (अंक-१७) के अंकों में धारावाही प्रकाशित हुआ। १८८८ के आरम्भ में इसी लेख को पुस्तक रूप में पुनः मुद्रित किया गया। उस समय पं० गुरुदत्त गवर्नमेंट कॉलेज लाहौर में भौतिक विज्ञान के कार्यवाहक प्रोफेसर थे। इस पुस्तक का समर्पण वाक्य इस प्रकार है—

“अपने समय के अद्वितीय विद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्वती की

स्मृति में, उनके एक सच्चे तथा श्रद्धावान् प्रशंसक गुरुदत्त विद्यार्थी द्वारा समर्पित।” समर्पण का यह वाक्य ही गुरुदत्त के स्वामी दयानन्द के प्रति भक्तिभाव को प्रकट करता है। मैं अपनी व्यक्तिगत जानकारी के आधार पर कह सकता हूँ कि आर्यसमाज के समस्त संगठन में गुरुदत्त की दयानन्द भक्ति अपवाद रूप थी। उन्होंने जितना अधिक स्वामी दयानन्द को पढ़ा, उस प्रतिभासम्पन्न सुधारक के प्रति उनकी भक्ति उतनी ही बढ़ती गई। उनका यह श्रद्धाभाव अन्ध धारणा पर आधारित नहीं था, किन्तु वह जितना अधिक प्रज्ञा आधारित था उतना ही सुदृढ़ भी था। ‘वैदिक संज्ञा विज्ञान’ शीर्षक जिस पुस्तक की चर्चा हमने ऊपर की है, वस्तुतः वह एक बड़ी पुस्तक की भूमिका ही है जिसे पं० गुरुदत्त लिखना चाहते थे और उसकी एक किस्त वैदिक मैगजीन संख्या दो और तीन में उन्होंने प्रकाशित भी की थी। इन दोनों निबन्धों को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि लेखक का इरादा अपने विषय को इन्हीं में समाप्त करने का नहीं था। वह इसे और अधिक विस्तार से लिखना चाहता था।

प्रथम निबन्ध में उन्होंने मुख्यतः यूरोपीय प्राध्यापकों द्वारा वैदिक पदों के अर्थ करने के लिए अपनाई गई प्रणाली का प्रत्याख्यान किया है। इस समस्या के विधेयात्मक पक्ष को उन्होंने साधारण रूप में ही स्पर्श किया है और वेदार्थ विषयक प्राचीन प्रामाणिक आचार्यों को भूरिशः उद्धृत नहीं किया है। द्वितीय पत्र में विषय का विधेय पक्ष, अर्थात् वेदों की व्याख्या किस प्रकार की जाय, विस्तार से विवेचित हुआ है। यहाँ प्राचीन ग्रन्थों के उदाहरण और प्रासंगिक स्थल उद्धृत किये गये हैं।

विषय की महत्ता को लेखक ने दो भिन्न-भिन्न बिन्दुओं से देखा है। प्रथम पत्र में सूक्ष्म दार्शनिक दृष्टिकोण से इसका विवेचन मिलता है। लेखक के ही शब्दों में “शब्द की उत्पत्ति, स्वरूप और नित्यता का प्रश्न संस्कृत साहित्य में बड़े महत्त्व का प्रश्न रहा है। इस प्रश्न के उच्च दार्शनिक स्वरूप में सन्देह नहीं हो सकता परन्तु वह असाधारण विशेषता, जो प्रत्येक संस्कृतज्ञ के ध्यान को आकर्षित करती है, इसके उस प्रभाव की सर्वव्यापकता है जो कि यह मानव ज्ञान के अन्य विभागों पर डालता है। प्राचीन संस्कृत समयों के निरुक्तकार, व्याकरण और भाषा-तत्त्ववेत्ता ही केवल इस प्रश्न को

नहीं उठाते, परन्तु मर्मज्ञ और सूक्ष्म दार्शनिक, अन्तिम और सर्वोत्तम संस्कृत मीमांसक, महामुनि व्यास के शिष्य, षड्दर्शनों में एक के प्रवर्तक, धर्मसूत्रकार जैमिनी भी इस प्रश्न के प्रभाव से अपने विषय को पृथक् नहीं रख सके। अपनी मीमांसा के आरम्भ में ही वह इस विचार को उठाते हैं और अपने ग्रन्थ के एक बड़े भाग को (यथा प्रमाण) इस प्रश्न के स्पष्टीकरण में लगाते हैं। मानववाणी के सम्बन्ध में अनुकरणवाद और अन्य कृत्रिमवादों पर विवाद करने में निपुण, आधुनिक भाषातत्त्वविज्ञान के पाठक के लिए ऐसे प्रश्नों से उत्पन्न होनेवाले झगड़े की विशालता का अनुभव करना कठिन नहीं। संस्कृत साहित्य में जो स्थान इस विचार को दिया गया है उसका उल्लेख हमने कुछ इस दृष्टि से नहीं किया, कि इस सारे वितण्डा का अन्त कर दें, जो कदाचित् अनिवार्य है, प्रत्युत प्रश्न के उठाने में हमारा प्रयोजन यह है कि संक्षेपतः इसी विचारान्तर्गत एक अन्य और अधिक उपयोगी प्रश्न अर्थात् वैदिक संज्ञाविज्ञान की व्याख्या के प्रश्न को उठावें।”^{११}

अपने दूसरे निबन्ध में व्यावहारिक इण्डो यूरोपियन दृष्टिकोण से लेखक ने लिखा—“वैदिक संज्ञा विज्ञान का प्रश्न हमारे लिए बड़े ही महत्त्व का है, क्योंकि वैदिक तत्त्वज्ञान की श्रेष्ठता के विषय में पूर्व और पश्चिम के बीच जो घोर विवाद होने वाला है उस पर आने वाली पीढ़ियों का निर्णय इसी प्रश्न के निश्चय पर अवलम्बित है। अब भी इस प्रश्न का निर्णय बहुमूल्य परिणाम पैदा करता है। क्योंकि यदि वैदिक तत्त्वज्ञान सत्य हो तो वेदों की व्याख्याएँ जैसी कि अध्यापक मैक्समूलर और अन्य यूरोपियन विद्वानों द्वारा सम्प्रति की जाती हैं, न केवल अधूरी, दोषयुक्त और अपूर्ण ही, प्रत्युत सर्वथा मिथ्या भी समझी जायेगी।”^{१२} पुनः वेदों के अनुवाद विषयक शांपनहार और स्वामी दयानन्द के विचारों को उद्धृत कर लेखक कहता है—“यूरोपियन विद्वानों में वैदिक पाण्डित्य की यह न्यूनता, वैदिक भाषा और तत्त्वज्ञान से उनकी पूर्ण अनभिज्ञता ही हमारे देश में भी इतने कुसंस्कार और पक्षपात का कारण है। वस्तुतः हमें हमारे अपने ही भाई, जिन्होंने उच्चतम अंग्रेजी शिक्षा पाई है, पर जो सर्वथा संस्कृत शून्य हैं, प्रायः बड़े अधिकार से कहते हैं कि वेद ऐसी पुस्तकें हैं जो प्रतिमाओं और प्राकृतिक तत्त्वों के पूजन की शिक्षा देती हैं, जिनमें

पाकशाला की साधारणतम स्वतःसिद्ध सचाइयों से बढ़कर और कोई बड़े महत्त्व की दार्शनिक, नैतिक, या वैज्ञानिक सचाई नहीं। अतएव इन हरिवर्षीय विद्वानों के व्याख्यानों के उचित मूल्य की जाँच करना सीखना हमारे लिए एक अतीव प्रयोजनीय विषय है। अतः हम उन व्यापक नियमों का एक स्थूल दिग्दर्शन प्रस्तुत करना चाहते हैं जिसके अनुसार कि वैदिक संज्ञाओं की व्याख्या होनी चाहिए, परन्तु जिन्हें यूरोपियन विद्वान् सर्वथा भुला देते हैं, और जिसके कारण बहुत-सा मिथ्यार्थ उत्पन्न हो गया है।^{६३} यूरोपियन प्रोफेसर तुलनात्मक भाषा विज्ञान, निगमनात्मक मनोविज्ञान तथा तुलना पर आधारित देव-गाथावाद के आधार पर वेदों में नाना पुराणगाथाओं की कल्पना करते हैं। गुरुदत्त ने अपने प्रथम निबन्ध में पृष्ठ ४ से ११ तक उपर्युक्त धारणा का तीव्र खण्डन किया है। मेरा विचार है कि केवल उपर्युक्त विद्याओं पर आधारित अनुमानों से ही वेदों में पुराण-गाथाओं का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, जब कि स्वयं पं० गुरुदत्त विद्यार्थी के ही कथनानुसार इन अनुमानों की अन्य प्रकार से व्याख्या की जा सकती है, विपरीत परिकल्पना प्रस्तुत की जा सकती है तथा इन यूरोपीय विद्वानों द्वारा स्थापित धारणाओं के खण्डन में समानान्तर सिद्धान्त प्रस्तुत किये जा सकते हैं। अपने द्वितीय पत्र के पृष्ठ ३५ पर वे लिखते हैं—

“इस कल्पना का मूलभ्रम यह है कि यह एक अनिश्चित परिणाम को आवश्यक परिणाम मानता है, क्योंकि मिथ्या-कथा-ज्ञान चाहे असभ्य बुद्धि और अनुषंगिक तर्क का ही फल हो, पर यह अवश्यमेव सदा ऐसा नहीं होता। यह तो पवित्रतर और सत्यतर धर्म के पतित, कुरूप और पाषाणभूत अवशेष के समान भी उत्पन्न हो सकता है। धार्मिक रीतियों का इतिहास, जो पहले तो विशेष वास्तविक प्रयोजनों की पूर्ति के लिए बनाई गई थीं, और जो कालक्रम से, उन प्रयोजनों के न रहने पर बिगड़कर अनुष्ठान और व्यवहारमात्र रह गई, उपर्युक्त वचनों की सत्यता का विपुल प्रमाण है। यदि हरिवर्षीय विद्वानों ने सायण और महीधर के देवमाला सम्बन्धी भाष्यों या वेदों के पीछे के, प्रत्युत वेदविरुद्ध काल के पौराणिक साहित्य को कभी न देखा होता तो उनके लिए केवल सापेक्ष मिथ्याकथाज्ञान या संस्कृत भाषाविज्ञान के सहारे वेदों की ऐसी व्याख्याएँ करना, जैसी कि

सम्प्रति उनमें प्रचलित है, असम्भव होता। क्या यह नहीं है कि पुराणों के नवीन होने के कारण उनकी सारी मिथ्याकथाज्ञान सम्बन्धी कल्पना उस समय खड़ी की गई थी, जब कि सत्य वैदिक तत्त्वज्ञान की जीवनी शक्ति, अवोध पण्डितमानियों की दृष्टि में अपने शब्दों में से निकल चुकी थी। निस्सन्देह जब मनुष्य विचारता है कि उपनिषदें एक ऐसे उच्च दार्शनिक एकेश्वरवाद की शिक्षा देती हैं जिसका सादृश्य कि संसार में विद्यमान नहीं—एक ऐसा एकेश्वरवाद जिसकी कल्पना प्रकृति की एकरूपता में पूर्ण विश्वास होने के पश्चात् ही की जा सकती है—और कि वे सारी और दर्शन-शास्त्र, पुराणों से पूर्ववर्ती हैं, जब मनुष्य इन सब पर विचार करता है तो वह इस परिणाम पर पहुँचने से नहीं रुक सकता, कि कम-से-कम आर्यावर्त में तो देवमाला, वेदों के पुरातन दार्शनिक सजीव धर्म के सड़े-गले अवशेष के रूप में उत्पन्न हुई थी। जब मनुष्यों की अज्ञानता से वैदिक शब्दों के यौगिक अर्थ भूल गये, और उनके स्थान में व्यक्ति विशेषों के नाम समझे जाने लगे, तो एक दूषित देवमाला उत्पन्न हुई जो आधुनिक मूर्तिपूजक आर्यावर्त के लिए शाप स्वरूप है। देवमाला पुरातन शब्दों के प्राथमिक अर्थों के जीर्ण हो जाने पर उत्पन्न हो सकती है, यह बात, जिस प्रक्रिया को मोक्षमूलर “देशभाषा की वृद्धि और ह्रास” या “धर्म का भाषा सम्बन्धी जीवन” कहता है उस रीति के द्वारा सचाई के बिगड़कर देवमाला बन जाने का कथन करते हुए, वह आप भी स्वीकार करता है।^{१४} इस प्रकार वे प्रश्न के निषेधात्मक पहलू को समाप्त कर देते हैं और उन लोगों की युक्तियों का खण्डन करते हैं जो वेदों में विपुल मात्रा में पुराण-गाथाओं के अस्तित्व की बात करते हैं। इस प्रश्न के विधेयात्मक पक्ष की चर्चा करते हुए वे कहते हैं—“वैदिक संज्ञाओं की व्याख्या के लिए पहला नियम जिसे निरुक्त के रचयिता यास्क ने स्थिर किया है यह है कि समस्त वैदिक संज्ञाएँ यौगिक हैं। निरुक्त के प्रथमाध्याय का चतुर्थ खण्ड इसी विवाद से प्रारम्भ होता है। यास्क, गार्ग्य, शाकटायन और दूसरे सारे वैयाकरण एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि वैदिक संज्ञाएँ सब यौगिक हैं। परन्तु यास्क और शाकटायन यह भी प्रतिपादन करते हैं कि रुढ़ि संज्ञाएँ भी यौगिक हैं अर्थात् मूलतः धातुओं से रची गई थीं। पर गार्ग्य प्रतिपादन करता है कि केवल रुढ़ि संज्ञाएँ

यौगिक नहीं हैं। वह खण्ड गार्ग्य की सम्मतियों के खण्डन के साथ समाप्त होता है और इसे सत्य स्थिर किया गया है कि सारी संज्ञाएँ—वैदिक हों या रुढ़ि—यौगिक हैं। निरुक्त के इसी प्रमाण पर पतंजलि अपने महाभाष्य में यही सम्मति प्रकट करता है, और वैदिक संज्ञाओं को रुढ़ि संज्ञाओं से नैगम नाम द्वारा पृथक् करता है। पतंजलि कहता है—

“नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्”

और इससे एक पंक्ति पूर्व—

“नैगम रुढिभवं हि सुसाधु” ।

इस सारे का अभिप्राय यह है कि सब ऋषि और मुनि पुरातन ग्रन्थकार और भाष्यकार, बिना किसी अपवाद के, वैदिक शब्दों को यौगिक मानते हैं, तथापि लौकिक शब्दों को कुछेक ने रुढ़ि भी माना है।

इस नियम को हरिवर्षीय विद्वानों ने सर्वथा भुलाया है और इसी कारण उन्होंने अपने वेदों के व्याख्यानों को पुराणों की घड़न्त या माँगी हुई कथाओं से, और ऐतिहासिक या पूर्व ऐतिहासिक व्यक्तियों के आख्यानों और उपाख्यानों से परिपूरित कर दिया है। इसलिए डाक्टर मूर के अनुसार निम्नलिखित ऐतिहासिक व्यक्ति का ऋग्वेद में वर्णन है, कण्व ऋषि १,४७.२. में गोतम १,६१.१६ में और गृत्समद ऋषि २,३६.८ में भृगव ऋषि ४,१६,२० में और बृहदुक्थ ऋषि १०,४५,६. में। परन्तु सत्य क्या है? कण्व और गृत्स शब्द केवल साधारण रूप में मेधावि पुरुषवाची हैं (देखो निघण्टु ३,१६) भृगवः शब्द केवल प्रज्ञावान् पुरुषों का वाची है देखो (निघण्टु ४,५) गोतम शब्द स्तोता वाची है और बृहदुक्थ वह है जिसको उक्थ या वस्तुओं के नैसर्गिक गुणों का बृहत् या पूर्ण ज्ञान है। तब यह स्पष्ट है कि इस नियम को एक बार भी भुला देने से पाठक का ऐतिहासिक या पूर्व ऐतिहासिक व्यक्तियों की कथाओं में जा पड़ना बहुत आसान है। यही मैक्समूलर के सम्बन्ध में कहा जा सकता है, जिसने कि ऋग्वेद में शुनःशेप की आख्यायिका का आविष्कार किया है। शेप जिसका अर्थ स्पर्श है (निरुक्त ३,२ शेपः शपते स्पृशति कर्मणो) ज्ञानार्थ वाले शुनः या श्वन् शब्द से (श्वा श्वसतेः शवतेर्वा गतिकर्मणः स्यात्) अनुबन्धित होने पर ऐसे पुरुष का अर्थ देता है कि जो ज्ञान के स्पर्श में आया है

अर्थात् एक विद्वान् पुरुष । इस लेख में आगे चलकर यह ज्ञात हो जाएगा कि निरुक्त के केवल इसी नियम के उल्लंघन से किस प्रकार एक मन्त्र के पश्चात् दूसरे मन्त्र की अशुद्ध व्याख्या हुई है ।

एक निष्पक्ष मनुष्य को इस नियम की सत्यता में कभी सन्देह न होगा । क्योंकि, निरुक्त के प्रमाण को छोड़कर भी, वेदों का पुरातनत्व ही इसके शब्दों के यौगिक होने का स्पष्ट प्रमाण है । प्रोफेसर मैक्समूलर भी, अपनी मिथ्याकथाविषयक वृत्तियों में, कम-से-कम वेदों के विशेष भागों के सम्बन्ध में, यह मानने के लिए बाधित हुआ है कि उनके शब्द यौगिक हैं । वह कहता है—परन्तु इन प्राथमिक स्वरों में एक चारुता है जो किसी अन्य प्रकार की कविता में नहीं पाई जाती । प्रत्येक शब्द अपने मौलिक अर्थों का कुछ-न-कुछ अंश अपने में रखता है, प्रत्येक विशेषण प्रभाव डालता है; प्रत्येक विचार, अति विषम और गहन शब्द रचना के होते हुए भी यदि हम इसे एक बार सुलझा दें, सत्य शुद्ध और पूर्ण है ।”

आगे चलकर मैक्समूलर फिर कहता है—“वेद में ऐसे नाम मिलते हैं मानो ये सभी तरलावस्था में हैं । वे कभी संज्ञा के रूप में प्रतीत नहीं होते और न ही व्यक्ति विशेषों के नामों के रूप में, वे सैन्द्रियिक हैं जो कि अभी तोड़े या साफ नहीं किये गये ।”^{१५}

यूरोपीय विद्वानों द्वारा की गई वेद मन्त्रों की हास्यास्पद और असंगत व्याख्याओं को प्रदर्शित करने का लोभ संवरण करना मेरे लिए कठिन है । अतः मैं यहाँ गुरुदत्त विद्यार्थी अथवा स्वामी दयानन्द द्वारा किये वेदार्थों को यूरोपियनों द्वारा किये गये अर्थों, की तुलना में तालिका रूप में प्रस्तुत करूँगा । ऋग्वेद के १६२ वें सूक्त को देखें । प्रथम मन्त्र इस प्रकार है—

मानो मित्रो वरुणो अर्यभायुरिन्द्र ऋभुक्षा मरुतः परिख्यन् ।

यद्वाजिनो देवजातस्य सप्तेः प्रवक्ष्यामो विदधे वीर्याणि ॥

—ऋ० सं० १ सू० १६२/१

मैक्समूलर इसका अर्थ करता है “मित्र, वरुण अर्यमन्, आयु, इन्द्र, ऋभुओं का स्वामी, और मरुत हमें बलिदान पर देवताओं से उत्पन्न वेगवान् घोड़े के गुण गाने के कारण न झिड़कें ।”

उपर्युक्त व्याख्या, वास्तविक या सत्य समझी जा सकती है, यदि प्रोफेसर मैक्समूलर यह सिद्ध कर दें, कि वैदिक समयों के आर्य इस

मूढ़ विश्वास का आदर करते थे कि कम-से-कम एक वेगवान् घोड़ा देवताओं से उत्पन्न हुआ था, और मित्र, वरुण, अर्यमन्, आयु, इन्द्र, ऋभुओं का स्वामी और मरुत देवता, यज्ञ पर वेगवान् घोड़े के गुण सुनना न चाहते थे, क्योंकि अन्यथा कवि को झिड़कने के लिए उनके पास कोई कारण न था। इनमें से किसी भी पक्ष को प्रमाणित करना कदापि सम्भव नहीं। एक असभ्य की अत्यन्त विकृत कल्पना भी “देवताओं से उत्पन्न वेगवान् घोड़ा” ऐसे मूढ़ विश्वास से संकोच करती है। इस पक्ष को सत्य प्रमाणित करने के लिए नाममात्र पुराणों के अश्वमेध का निर्देश करना भी निरर्थक है। सारी सचाई तो यह है कि इस अश्वमेध के मिथ्याकथाज्ञान की उत्पत्ति वैसे ही हुई है जैसे कि मैक्समूलर के अनुवाद की हुई है। यह वेदों के भाषा सम्बन्धी नियमों के अज्ञान से पैदा हुआ है, जिससे कि यौगिक अर्थ रखने वाले शब्द नाम विशेष समझे जाते हैं और एक कल्पित मिथ्या-कथा-ज्ञान चलाया जाता है।”

“उदाहरणार्थ, पूर्व उद्धृत मन्त्र को लीजिए। स्पष्टतया मैक्समूलर पर यह संस्कार है कि ‘मित्र’ दिन का देवता है, ‘वरुण’ आच्छादक आकाश का देवता है, ‘अर्यमन्’ मृत्यु का देवता है, ‘वायु’ या ‘आयु’ पवन का देवता है, ‘इन्द्र’ जलमय वायुमण्डल का देवता ‘ऋभु’ स्वर्गीय चित्रकार है, और ‘मरुत’ तूफानों का देवता है। परन्तु ये देवता क्या हुए ? क्योंकि उसने इन शब्दों के यौगिक अर्थों पर ध्यान नहीं दिया और इन्हें नामविशेष समझता है। मित्र का शाब्दिक अर्थ सुहृद, वरुण का श्रेष्ठ गुणों वाला पुरुष, अर्यमा का न्यायाधीश या न्याय प्रवर्तक, आयु का विद्वान् पुरुष, मरुत का क्रियात्मक रूप से ऋतुओं के नियमों का पालन करने वाले हैं। मन्त्र में जो अश्व शब्द आया है वह ‘घोड़ा’ मात्र अर्थ नहीं रखता प्रत्युत इसके अर्थ तीन शक्तियों के भी हैं अर्थात् उष्णता, विद्युत और चुम्बकीय शक्ति। वस्तुतः इसका अर्थ कोई ऐसा पदार्थ है जो दूरी में से शीघ्र ले जा सकता है। अतः स्वामी दयानन्द ने इस सूक्त के आरम्भ में लिखा है। (ऋग्वेद भाष्यम्, दूसरा भाग, पृ० ५३३)।

अथाश्वस्य विद्युद्रूपेणव्याप्तस्याग्नेश्च विद्यामाह ॥

“यह सूक्त अश्वविद्या का व्याख्यान है जिसका अर्थ हैं घोड़ों को सिधाने की विद्या और विद्युत रूप में सर्वत्र व्याप्त अग्निको विद्या।”

‘अश्व’ का अर्थ अग्नि है, यह निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट हो जाएगा ।

अश्व न त्वा वारधन्तम् विदध्या अग्निं नमोभिः ॥—ऋग्वेद

अश्वं अग्निं शब्द प्रगट करते हैं कि अश्व का अर्थ अग्नि है ।

और पुनः—

वृषो अग्निः समिद्धयतेऽश्वो न देववाहनः ।

तं हविष्मन्तईडते ॥—ऋग्वेद १.२७.१

जिसका अर्थ है अग्नि अर्थात् अश्व वाहक पशु के समान उस विद्वान् को ले जाता है जो इस प्रकार उसके दूरवाही गुणों को पहचानता है । अथवा पुनः—

वृषो अग्निः । अश्वो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति ॥

—शतपथ ब्रा० १.३.३.२६-३०^{६६}

“अब सायण कृत ऋग्वेद (१.६६)^{६७} भाष्य को पण्डित गुरुदत्त कृत इस सूक्त के अर्थों से मिलायें ।

ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम् ।

श्येनो गृध्रानां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ॥

सायण कहता है—

परमात्मा स्वयं इन्द्र, अग्नि इत्यादि देवताओं के मध्य में ब्रह्मा के रूप में प्रकट होता है । वह नाटककारों और गीति-रचयिताओं में कवि, ब्राह्मणों में वसिष्ठ इत्यादि, चार पैर वाले पशुओं में भ्रंस, पक्षियों में श्येन और जंगल में कुल्हाड़े के रूप में प्रकट होता है । वह पवित्र गंगा जल से भी बढ़कर पावनीशक्ति रखनेवाला मन्त्रपूत सोम रस है, इत्यादि ।

इस अनुवाद पर उस काल की छाप लगी हुई है जब कि यह किया गया था । यह एक पण्डित का यत्न है जो कि उसने लोकप्रिय पक्षपात और भाव को अपील करके अपने नाम की प्रतिष्ठा के लिए किया है । यह स्पष्ट है कि जिस समय सायण ने भाष्य लिखे उस समय भारत का धर्म ‘अद्वैतवाद’ या ‘प्रत्येक वस्तु ब्रह्म है’ था । स्पष्टतः मूढ़विश्वास इतना बढ़ गया था, कि गंगा का जल भी पूज्य समझा जाता था, ईश्वर के अवतारों में विश्वास था और ब्रह्मा, वसिष्ठ और अन्य ऋषियों की पूजा पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी थी । यह सम्भवतः नाटककारों और कवियों का काल था । सायण स्वयं

किसी शहर या कस्बे का रहने वाला था।^{१८} वह ग्रामीण न था। वह जानता था कि जंगलों को नष्ट करने का साधन कुल्हाड़ा होता है, पर वह ऐसे ही साधन विद्युत या अग्नि को नहीं जानता था जो कि कुल्हाड़े से भी अधिक बलवान् है। उसका अनुवाद वेद के आशय को प्रकट करने के स्थान में उसके अपने काल का चित्र उपस्थित करता है। उसका ब्रह्मा, कवि, देव, ऋषि, विप्र, महिष, मृग, श्येन, गृध्र, वन, सोम, पवित्र, का अनुवाद बिना किसी अपवाद के सर्वथा रूढ़ि या लौकिक है।

अब यास्क का व्याख्यान उसके निरुक्त १४,३ में देखिए। वहाँ एक भी शब्द ऐसा नहीं, जो अपने यौगिक अर्थ में न लिया गया हो। यास्क कहता है—

अथाध्यात्मं ब्रह्मादेवानामित्ययमपि ब्रह्मा भवति देवानां देवन-
कर्मणामिन्द्रियाणां पदवीः कवीनामित्यपि पदं वेत्ति कवीनां कवीय-
मानानामिन्द्रियाणामृषिर्विप्राणामित्ययमप्यृषिणो भवति विप्राणां
व्यापनकर्मणामिन्द्रियाणां महिषो मृगणामित्ययमपि महान् भवति
मार्गणकर्मणामिन्द्रियाणां श्येनोगृध्रानामिति श्येन आत्मा भवति
श्यायतेज्ज्ञानं कर्मणो गृध्रापीन्द्रियाणि गृध्यतेज्ज्ञानं कर्मणो यत एतस्मि-
न्तिष्ठति स्वधितिर्वनानामित्ययमपि स्वयं कर्माण्यात्मनि धत्ते वनानां
वननं कर्मणामिन्द्रियाणां सोमः पवित्रमृत्येति सूयमा नो यमेवैतत्
सर्वमनुभवत्यात्मगतिमाचष्टे।

अब हम यहाँ इस मन्त्र का यास्क का दिया आध्यात्मिक अर्थ कहते हैं। उसका अभिप्राय यह समझाने का है कि जीवात्मा एक केन्द्रस्थानी चेतन सत्ता है जो सारे अनुभव का भोक्ता है। इन्द्रिय प्रदर्शित बाह्य जगत् इस केन्द्रस्थानी सत्ता में अपने उद्देश्य और प्रयोजन को, और फलतः लीनता को प्राप्त हो जाता है। इन्द्रियों को देव कहा जाता है, क्योंकि उनका कार्य बाह्य दृश्यचमत्कारी जगत् में होता है और क्योंकि उन्हीं के द्वारा बाह्य जगत् हमारे लिए प्रकाशित होता है। अतः आत्मा, जीवात्मा ही ब्रह्मा देवानाम् है; अर्थात् वह चेतन सत्ता है जो अपनी चेतनता के आगे इन्द्रिय-प्रकाशित सब कुछ उपस्थित करती है। ऐसे ही इन्द्रियों को कवयः कहा जाता है क्योंकि पुरुष उन्हीं के द्वारा अनुभव करता है। तब आत्मा पदवी कवीनाम् अथवा वह सत्य सत्ता है तो इन्द्रियों के कृत्यों को समझती

है। पुनः आत्मा ऋषिर्विप्राणाम्, अर्थात् इन्द्रिय विषयों का द्रष्टा है, विप्र का अर्थ इन्द्रियाँ हैं क्योंकि उनसे उत्तेजित ज्ञान सारे शरीर में व्याप्त है। इन्द्रियों को मृग भी कहते हैं क्योंकि वे बाह्य जगत् में अपने विषय विशेषों को खोजती हैं। आत्मा महिषो मृगाणाम् अर्थात् प्रधान व्याध है। तात्पर्य यह है कि वस्तुतः आत्मशक्ति द्वारा ही इन्द्रियाँ अपने विषयविशेषों को ढूँढ़ सकती हैं। आत्मा श्येन कहाता है क्योंकि अनुभव शक्ति इसी की है, और इन्द्रियाँ गृध्र हैं क्योंकि वे इस अनुभव के लिए सामग्री प्रस्तुत करती हैं। तो, आत्मा इन इन्द्रियों में व्याप्त है। पुनः यह आत्मा स्वधितित्वनानाम् अर्थात् वह स्वामी है जिसकी सब इन्द्रियाँ सेवा करती हैं। स्वधिति का अर्थ है आत्मा, क्योंकि आत्मा की चेष्टा सब अपने लिए है, यतः पुरुष स्वयं एक उद्देश्य है। इन्द्रियों को वन कहा जाता है क्योंकि वे अपने स्वामी अर्थात् जीवात्मा की सेवा करती हैं। यही आत्मा है जो स्वस्वभाव में पवित्र होकर सबको भोगता है। यह है यौगिक अर्थ जो यास्क इस मन्त्र का करता है। यह अर्थ, सायण के अर्थ के विपरीत, जो कि कोई यथार्थ भाव नहीं जताता, न केवल अविबुद्ध और बुद्धिगम्य ही है, और सायण के विपरीत जो कि शब्द के लोकप्रिय अर्थ के बिना और कुछ जानता ही नहीं, न केवल इसका प्रत्येक शब्द अपने यौगिक अर्थ में स्पष्टतया निश्चित ही है, प्रत्युत इसमें अर्थ की वह सरलता, नैसर्गिकता और सत्यता भी पाई जाती है जो कि इसे सब देश और काल से स्वतन्त्र कर देती है, और जिसका यदि सायण के अर्थ की कृत्रिमता, अस्पष्टता और स्थानीयता से मुकाबला किया जाय, तो सायण की वैदिक व्याख्या के नियमों से पूर्ण अज्ञता प्रकट होगी।^{१६६}

स्वामी दयानन्द के अनुसार यह सारा सूक्त ही अश्व विद्या की व्याख्या है जिसका अभिप्राय घोड़ों के प्रशिक्षण तथा उस अग्निविद्या से है, जो सर्वत्र विद्युत के रूप में व्याप्त रहती है।

इसी सूक्त के मैक्समूलर कृत अर्थों को दिखाने के पश्चात् वे सायण के अर्थों को बताते हैं। इन्हीं दोषपूर्ण अर्थों से उस आधुनिक तुलनात्मक भाषा विज्ञान का ढाँचा खड़ा किया गया है, जिसका सहारा लेकर आज के वैदिक विद्वान् इस दिशा में आगे बढ़ते हैं। पं० गुरुदत्त ऋग्वेद (१.६६)^{७०} के सायण के अनुवाद को यास्क कृत निरुक्त (१४.१३) में दी गई इसी सूक्त की व्याख्या के साथ तुलना

में प्रस्तुत करते हैं। सायण का अर्थ इस सूक्त को पुराणगाथा का लंबादा ओढ़ा देता है जब कि यास्क इस सूक्त से एक सुन्दर एवं गम्भीर सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं, जो आध्यात्मिकता का स्रोत है और जो वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने के तथ्य के सर्वथा अनुकूल है।

इस निबन्ध के कुछ पृष्ठ मैक्समूलर की एक अद्भुत कल्पना-मूलक उद्भावना का खण्डन करते हैं जिसमें कहा गया है कि वैदिक कवियों के धर्म में एकैकाधिवाद (Heno Theism)^{७१} प्रमुख रूप से व्यक्त हुआ है। क्या वेद के कवियों को संसार के इसी एक व्यक्ति के प्रति आभारी होना चाहिए और उसके आविष्कार पर गर्व करना चाहिए, जो यह दावा करता है कि सृष्टि के प्रारम्भ से अब तक वही पहला व्यक्ति है जिसने इन मन्त्रों के अर्थों के वास्तविक अभिप्राय को समझा है तथा वेद के धर्म को हीनोथीज्म का नाम दिया है।

भारत के उन हिन्दू विद्यार्थियों को, जो वेदों में विश्वास रखने-वाले ऐसे महापुरुषों की सन्तान हैं, जिन्हें ये तथाकथित यूरोपीय विद्वान् भी असाधारण बौद्धिक क्षमता युक्त मानते हैं, जिन्होंने ऐसे दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रवर्तन किया है जिनकी समता संसार के इतिहास में भी दुर्लभ है, जिन्हें संसार में एक ऐसे व्यवस्थित दर्शन का उद्भावक और जनक कहा गया है जो संसार की उत्पत्ति, एवं मनुष्य और उसकी भावी नियति के सम्बन्धों की जिज्ञासा प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के मन में उत्पन्न करते हैं, मैक्समूलर और सायण के नेतृत्व को स्वीकार करने में लज्जा आनी चाहिए जो वेदों के कतिपय उदात्ततम अंशों को प्राचीन आयों की मनगढ़न्त पुराण गाथा कहने का दुस्साहस करते हैं। यह और भी खेद की बात है कि यास्क जैसे महर्षि के देशवासी निरुक्तकार की अपेक्षा मैक्समूलर को वेद के विषय में प्रमाण मानते हैं, जो इन वेदों को मूर्खतापूर्ण बातों का ऐसा संग्रह कहता है जो वास्तव में मनुष्य की धार्मिक जिज्ञासाओं को शान्त करने में असमर्थ हैं।

सायण और महीधर की विद्वत्ता का आदर करते हुए भी यह कहना उचित होगा कि वे भारत के पक्के शत्रु थे। उन्होंने अपने पूर्वजों के पवित्र ग्रन्थों का जो घिनौना अर्थ किया उसी का परिणाम निकला कि हमारे देशवासियों का पतन हुआ, और वे स्वधर्म को त्यागकर ईसाई, मुसलमान, बौद्ध और नास्तिक बने। जब हम ऐसी

दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं पर विचार करते हैं तभी हमें स्वामी दयानन्द और गुरुदत्त विद्यार्थी की असामयिक मृत्यु से उत्पन्न गम्भीर क्षति का अनुमान होता है। इन्हीं लोगों के प्रयत्नों ने संसार के समक्ष वेदविद्या के खजाने को खोला है ताकि मनुष्य जाति सत्य ज्ञान के वास्तविक निर्झर से प्राप्त ज्ञानामृत का पान कर सके। ऐसे ही लोग यास्क, व्यास, पतंजलि तथा अन्य ऋषियों के नाम को पुनरुज्जीवित कर सकते हैं। यदि हम सायण और महीधर के स्थान पर यास्क तथा अन्य पुरातन वेद भाष्यकारों का अनुसरण करते तो यह सम्भव था कि भारत अपने पुरातन गौरव को पुनः प्राप्त कर लेता। यह एक विडम्बना ही है कि वेदों की व्याख्या में आर्य हिन्दू (भारतीय) यूरोपीय विद्वानों को अपना मार्गदर्शक और प्रामाणिक पुरुष मानते हैं। सत्य ही है कि परमात्मा के कार्य निगूढ़ होते हैं।

इस निबन्ध के अवशिष्ट अंश में 'देवता' शब्द की विस्तृत, रोचक और यथार्थ व्याख्या की गई है। वेद तथा यास्क के मूल पाठ को भूरिशः उद्धृत कर यह सिद्ध किया गया है कि वेद मन्त्रों में प्रयुक्त 'देवता' एक सामान्य संज्ञा है और इसका प्रयोग उन वस्तुओं और पदार्थों के लिए होता है जो मन्त्रों में वर्णित हैं। अतः प्रत्येक मन्त्र का देवता होता ही है। इस देवता के माध्यम से ही वेद निर्माता सर्वशक्तिमान् परमात्मा तत् तत् वस्तु या पदार्थ के विशिष्ट गुणों का वर्णन करते हैं। निरुक्त में आचार्य यास्क एक स्थान (७.४) पर कहते हैं संसार में प्रायः यह देखा जाता है कि विद्वान् माता-पिता, अतिथि, धर्मोपदेशक, जिनके निवास का कोई निश्चित स्थान नहीं होता अपितु जो संसार के हित के लिए स्थान-स्थान पर घूमकर धर्मोपदेश देते हैं, देवता कहलाते हैं और इसी नाम से पुकारे जाते हैं। आज भी इस शब्द का प्रयोग किसी आदरणीय, पवित्र व्यक्ति के लिए ही होता है। सामान्य वार्तालाप में हम जीवित व्यक्ति के लिए भी कहते हैं—“अमुक आदमी तो देवता है।” एक सुन्दर युक्ति-परम्परा का सहारा लेकर और निरुक्त का प्रमाण देकर पं० गुरुदत्त इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—वेद में निम्न छः वस्तुओं को ही देवता कहा गया है। ये हैं—काल, देश, क्रिया, जीवात्मा, विचारान्तर कृत व्यवसाय और प्राणभूत व्यवसाय। अथर्ववेद (१०.२२ मन्त्र ४-२७) तथा यजुर्वेद (१४.३१) में वर्णित ३३ देवताओं पर जब हम इस

निर्णायक मापदण्ड के आधार पर विचार करते हैं तो शतपथ ब्राह्मण (१४.१६) के द्वारा हमारे उपर्युक्त कथन की निस्संशय पुष्टि हो जाती है।

यूरोपीय विद्वानों द्वारा किये गये वेदों के अनुवाद कितने विकृत और भ्रष्ट हैं, यह बताने के लिए मैक्समूलर कृत 'हिरण्यगर्भ' मन्त्र का अनुवाद द्रष्टव्य है। वह मन्त्र के अर्थ में लिखता है—“आरम्भ में हिरण्यगर्भ (स्वर्णाण्ड) उत्पन्न हुआ, वह इस सबका एक उत्पन्न हुआ स्वामी था। उसने पृथ्वी और आकाश की प्रतिष्ठा की। वह कौन ईश्वर है, जिसे हम अपनी हवि चढ़ाएँ।” अब पाठक स्वयं विचार करें कि ‘हिरण्यगर्भ’ का सुसंगत अर्थ क्या हो सकता है। वस्तुतः तो यह परमात्मा का ही वाचक है जब कि मैक्समूलर ने इसका अर्थ सोने का भ्रूण किया है। वैदिक धर्म में स्वीकृत ऐकेश्वरवाद की सिद्धि में कुछ अन्य प्रमाण प्रस्तुत करके लेखक ने इस निबन्ध को समाप्त किया है।

स्वामी दयानन्द जैसे विद्वान् पुरुष ने जो कुछ प्रतिपादित किया, उसे अंग्रेजी में प्रस्तुत करने का ही प्रयास पं० गुरुदत्त का था। यह तो ठीक है कि उनका स्वामीजी के विचारों का यह पुनः प्रस्तुतीकरण यत्र तत्र उनके निज के बहुमूल्य विचारों से ओतप्रोत है। किन्तु इसे कोई अस्वीकार नहीं करेगा कि ऐसा करके पं० गुरुदत्त ने आलोच्य विषय पर एक नूतन प्रकाश ही डाला है, खास तौर से उन लोगों के लिए जिन्होंने पाश्चात्य विज्ञान के जलाशय से ही ज्ञान रूपी जल का पान किया है।

पं० गुरुदत्त के वेद विषयक निबन्ध स्वल्प काल बाद भारत और यूरोप के प्रायः सभी लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों को भेजे गये। किन्तु ऐसा लगता है कि बहुत कम लोगों ने इन पर ध्यान दिया। शायद उन्होंने इन पर सम्मति प्रकट करना भी अपनी शान के खिलाफ समझा होगा। इनमें से अकेले मि० फ्रैड्रिक पिन्काट^{२२} ने ही वेदसंज्ञाविज्ञान पर अपने विचार लिखकर भेजे। श्री पिन्काट के बारे में हम जानते ही हैं कि भारत के राजनैतिक मसलों में उनकी अत्यधिक रुचि थी। मि० पिन्काट ने लिखा—“बहुत कम भारतवासी आपकी भाँति विद्वत्तापूर्ण तथा मुहावरेदार अंग्रेजी लिख सकते हैं। मुझे आप जैसे विचारशील तथा परिश्रमी युवक से विचार-विनिमय हुए करते

अपार प्रसन्नता हो रही है। मेरे मित्र ने मुझे बताया है कि आप तो अभी नवयुवा ही हैं अतः मैं यह आशा करता हूँ कि आप अपने परिश्रम तथा उपलब्धियों से भारत को प्रबुद्ध करने में अधिकाधिक योगदान कर सकोगे।” किन्तु यह आशा तो अपूर्ण ही रही। इसी कोटि के विद्वान् से अभागे भारत का अधिक हित नहीं होना था। पिन्काट ने आगे लिखा—“यह निबन्ध आपके बहु-अधीत तथा मौलिक विचारक होने का प्रमाण है।” यह तो सही है कि इस भद्र पुरुष ने पं० गुरुदत्त द्वारा वेदों के विषय पर लिखी सारी बातों से सहमति नहीं दिखाई, किन्तु उसके निम्न उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यूरोपीय विद्वान् भी धीरे-धीरे सही दिशा में आ रहे हैं तथा स्वामी दयानन्द और गुरुदत्त विद्यार्थी के विचारों को यूरोप के शोधार्थी विनम्र भाव से स्वीकार कर रहे हैं। मि० पिन्काट कहते हैं—“वेदों में प्रयुक्त पद यौगिक हैं, इस धारणा को प्रकट कर आपने अपने पाठकों का बहुत उपकार किया है। जिस समय वेदों का प्रादुर्भाव हुआ था, उस समय इनमें प्रयुक्त शब्दों के जो स्वाभाविक अर्थ थे, उन्हें ग्रहण करके ही इनकी वास्तविक व्याख्या की जा सकती है; क्योंकि इसी आधार पर उस अति प्राचीन काल में वैदिक शब्दों को दिये गये अर्थों का हम निर्धारण कर सकते हैं। इसका एक मात्र अवशिष्ट तरीका यही है कि वही शब्द किसी अन्य स्थान पर यदि प्रयुक्त हुआ है तो किस अर्थ में, यह देखकर वैदिक पदार्थों का ज्ञान करना। इस प्रकार वेद, स्वयं ही अपनी व्याख्या कर देता है।”

किन्तु पिन्काट द्वारा बताया हुआ तरीका ही अकेला नहीं है। वेदार्थ ज्ञान के लिए निरुक्त, निघण्टु तथा ब्राह्मण आदि ग्रन्थ भी हैं। केवल सायण और महीधर से हम छुट्टी पा लें, तो हम अपने लक्ष्य पर पहुँचने में सुनिश्चित हो जाएँगे। तब संसार यह सहज निष्कर्ष निकाल लेगा कि ऐकेश्वरवाद से भिन्न वेद में किसी अन्य धर्म का प्रतिपादन है ही नहीं।

एक अन्य स्थान पर यही महानुभाव पुनः कहते हैं, “आपका यह कथन सत्य ही है कि वेदों के जिन महान् भाष्यकारों की प्रायः प्रशंसा होती है, (उसका अभिप्राय सायण और महीधर से है) उन्हें हमारी अपेक्षा वैदिक पदों का बहुत अधिक ज्ञान नहीं था।” अन्यत्र वह वैदिक साहित्य पर अपने विचार प्रकट करता हुआ लिखता है—

“संहिताओं से हम ब्राह्मणों की ओर आते हैं। ब्राह्मणों से आरण्यक तथा आरण्यकों से उपनिषदों तक पहुँचते हैं। यहीं पर वैदिक साहित्य समाप्त होता है। यह तो सत्य है कि कुछ उपनिषदें प्राचीन हैं तो कुछ ब्राह्मण नवीन भी हैं, वैसे ही जैसे कि अथर्व संहिता भी नहीं है। किन्तु यह सारा ग्रन्थ भण्डार संस्कृत के अन्य साहित्य से एक दुर्लभ प्राचीन से पथक् किया हुआ है।”

अध्याय ११

उपनिषदों के भाष्य

आधुनिक युग के सर्वप्रख्यात जर्मन दार्शनिक शॉपनहार ने उप-निषदों के बारे में अपनी सम्मति देते हुए कहा था—“समस्त भूमण्डल में उपनिषदों के मूल ग्रन्थों से बढ़कर मनुष्य को उन्नत बनाने वाली और लाभदायक अन्य कोई अध्ययन सामग्री नहीं है।”^{१७३} उपनिषदों के गौरव को सिद्ध करने के लिए उनके मूल पाठ को ही प्रस्तुत किया जाना चाहिए न कि हम किसी विदेशी की सम्मति को इस बारे में उद्धृत करें, जिसे इन ग्रन्थों को मूल रूप में पढ़ने का कभी सुअवसर ही नहीं मिला। किन्तु आज के शिक्षित भारतीय की तो यह विडम्बना ही है कि वह अपनी अनुकरण की प्रवृत्ति के कारण दूसरों के पंखों को अपनी टोपी में लगाकर ही सुखरू बनना चाहता है। अब उसके स्वभाव में भारतीयता का स्वल्प अंश ही रह गया है, वह पल्लवग्राही पाण्डित्य को ही चाहता है, थोथी पदवियाँ उसे प्रसन्न करती हैं, बौद्धिकता के संसार में अपनी पुरानी विरासत के प्रति उसे सन्देह है और वह उसकी महत्ता को लेकर अविश्वासी है। इसी का परिणाम है कि वह मौलिक शास्त्रों के अध्ययन में समय और श्रम लगाना व्यर्थ समझता है। हम भारतवासी दूसरों की साक्षी से ही पुरातन भारतीय ग्रन्थों की जानकारी लेना चाहते हैं और अपनी धार्मिक पुस्तकों के ज्ञान के लिए अनुवादों का सहारा लेते हैं।

उपनिषद् प्रणेताओं के वंशज ये भारतवासी, अपनी आध्यात्मिक परम्परा को जानने के लिए यूरोपीय विद्वानों के समीप जाते हैं। एक इसी सच्चाई ने हमारी जाति को अपमान और अपयश का भागी बनाया है। इसलिए इस बात में कोई आश्चर्य नहीं है कि आज हमारे उस दर्शन को, जो प्राचीन भारत के शक्तिशाली आर्यों का दर्शन था, “मानव जाति के एक प्रतिगामी वर्ग की मानसिक उपज, निम्न नस्ल के लोगों का विचार समूह, तथा ऐसे लोगों की स्थिर एवं गतिरहित संस्कृति बताया जा रहा है जिनकी बौद्धिक उन्नति सर्वथा अवरुद्ध

हो चुकी है और जो मानव की मानसिक प्रगति के साथ आगे बढ़ने की शक्ति खो बैठे हैं।”^{७४}

भारत और भारतीय साहित्य के ये तथाकथित मिथ्याभिमानी त्राणकर्ता भारतीय मस्तिष्क से उत्पन्न गम्भीरतम दर्शन के प्रति कैसा दृष्टिकोण रखते हैं, इसका स्वल्प परिचय देने के लिए उसी लेखक का एक और उद्धरण मैं प्रस्तुत करता हूँ। पृष्ठ ४ पर वह लिखता है— “भारत के दर्शन पर विचार करने के लिए लेखक को यूरोप के दैनन्दिन जीवन में प्रवाहित विचार प्रवाह की तुलना में निम्न श्रेणी के विचारों की आलोचना करनी पड़ती है। भारत का चिन्तन जिस भाषा का प्रयोग करता है और बौद्धिकता के जिस अत्यन्त साधारण स्तर पर सोचता है, उसकी तुलना में यूरोपीय दर्शन और चिन्तन कहीं अधिक उच्च है क्योंकि उसमें हिब्रू, ग्रीक तथा ईसाई संस्कृति का सम्मिश्रण है। यह भी ध्यान में रखना होगा कि भारतीय सृष्टि-विद्या में जैसी मूल अवधारणाएँ व्यक्त की गई हैं वे सर्वथा अपरिष्कृत एवं कलाविहीन धार्मिक कल्पनाओं से गूढ़ी हुई हैं। भारतीय दर्शन के साथ एक बहुत बड़ी कठिनाई तो यह है कि यहाँ निम्न कोटि के विचारों को उच्चशब्दावली में व्यक्त किया गया है। अंग्रेजी भाषा में इन शब्दों के भाव को प्रस्तुत करना निश्चय ही कठिन हो जाता है।”

“भारतीय दर्शन पर अपने विचार प्रकट करने वाला लेखक चाहे वह कितना ही सावधान रहे, बिना किसी पूर्वाग्रह या पक्षपात किये तथ्यों को उनके वास्तविक परिप्रेक्ष्य में, न तो घटाकर और न बढ़ाकर, प्रस्तुत कर ही नहीं सकता। उसके लिए स्वयं को भारत के उन पुरातन ऋषियों के स्थान पर रखना असम्भव ही है। वह न तो उनकी दृष्टि से ही देखेगा और न उन वस्तुओं को उसी नाम से पुकारेगा, जो नाम उन प्राचीनों द्वारा दिये गये थे यदि वह (यूरोपीय लेखक) स्वयं को भारतीय ऋषियों की भूमिका पर लाये तो उसे अपने मानसिक घरातल को एक निम्न और अपरिष्कृत आधार भूमि पर ही लाना होगा। यदि वह ऐसा करता है तो उसे अपनी वंशानुगत पैतृक संस्कृति को एक ओर रखना होगा और थोड़े समय के लिए खुद को असंभ्य जंगली बनाना होगा।”^{७५}

इस लम्बे उद्धरण को हमने इसीलिए दिया क्योंकि हमें इसकी

बातें बड़ी रोचक लगीं। इससे पता चलता है कि आज का एक तथा-कथित प्राच्यविद्याविशारद उस दर्शन को कैसा आदर दे रहा है जिसके बारे में आपनहार की सम्मति हम इस अध्याय के आरम्भ में लिख चुके हैं। इस अध्याय को लिखकर पुस्तक के आकार को बढ़ाने का मेरा प्रयोजन पाठकों को यह बताना है कि पं० गुरुदत्त विद्यार्थी जैसे योग्य और विश्वसनीय उपनिषदों के अनुवादक को खोकर हमने अपनी कितनी बड़ी हानि की है। भारत की प्रजा की बौद्धिक क्षमता इतनी घट गई है कि जब तक सत्य को उसके नग्न रूप में प्रकट नहीं किया जाये, वह उसे देखती ही नहीं। इसलिए पं० गुरुदत्त द्वारा किये गये उपनिषदों के अनुवादों पर लिखते समय मुझे उन लोगों की सम्मति उद्धृत करनी होगी, जो इस विषय के अधिकारी विद्वान् माने जाते हैं।

ये भारतवासी ही हैं जो यह मानते हैं कि उपनिषदों के दर्शन की गम्भीरता और उच्चता को वे ही समझ सकते हैं जो ईसाइयत को अपनी मुक्ति का साधन मानकर उससे चिपके हुए हैं। अब हम एक अन्य विद्वान् के विचारों को प्रस्तुत कर रहे हैं जो अपने-आपको भारतीय दर्शन का निष्पक्ष विद्यार्थी कहता है और हमारी भारतीय जाति के प्रति न्याय करने के लिए भारतीय शास्त्रों में अभिव्यक्त अमर सत्य से कुछ हद तक प्रभावित भी हुआ है। प्रो० मैक्समूलर कहता है—

“उपनिषदों के अनुवाद को लेकर अन्य विद्वान् चाहे कुछ भी सोचते हों, मैं तो उसी बात को पुनः कहूँगा जिसे मैं पहले कह चुका हूँ। मेरा कथन यह है कि इन दार्शनिक ग्रन्थों के अनुवाद में जितनी ब्रकट समस्याएँ अनुवादक के समक्ष आती हैं उतनी शायद ही किसी अन्य संस्कृत ग्रन्थ के अनुवाद में आती होंगी। किन्तु मैं भली-भाँति जानता हूँ कि उपनिषदों के वास्तविक पाठ के सम्पादन तथा उनके मूल अभिप्राय को स्पष्ट करने में अभी कितना कुछ किया जाना बाकी है। इसीलिए मुझे कभी तो इन ग्रन्थों के कतिपय अंशों का तो काम-चलाऊ अस्थायी अनुवाद ही करना पड़ा, और किसी अन्य परिस्थिति में अन्य भाष्यकारों का अनुकरण करना पड़ा। हालाँकि ऐसा करते समय मैं निश्चित रूप से जानता था कि मूलपाठ से जो अर्थ वे निकाल रहे हैं, वह सत्य नहीं है।” वह (मैक्समूलर) अपनी दिक्कतों को

असंगत ढंग से व्याख्यात करता हुआ पुनः कहता है—“हमारी वास्तविक कठिनाई कुछ भिन्न प्रकार की है। उपनिषदों में एक बहुत बड़ी संख्या तो ऐसे अंशों की है जो हमें पूर्णतया अर्थशून्य या युक्ति-रहित प्रतीत होते हैं, अथवा उन्हें क्लिष्ट कल्पना पर आश्रित कहना होगा क्योंकि हम विश्वास ही नहीं कर सकते कि जिन लेखकों ने धर्म और दर्शन पर अपने गम्भीर विचारों को निरन्तर स्पष्ट रूप में अभिव्यक्ति प्रदान की हो, वे उसी साँस में इतना निकृष्ट भी लिख सकते हैं। उपनिषदों में जो याज्ञिक विषयों की वारीकियाँ दार्शनिक व्याख्या प्रचुर मात्रा में हैं, उनके अर्थों को हम शायद कुछ समय बाद और अधिक स्पष्टता से समझ सकेंगे, जब हम वैदिक कर्मकाण्ड की जटिलताओं पर पूरा अधिकार प्राप्त कर लेंगे। तथापि उपनिषदों में अर्थहीन बातों का अन्तहीन सिलसिला तो आपको मिलता ही रहेगा और इसीलिए मेरे जैसा व्यक्ति भी प्राचीन चिन्तन के इन स्रोतों में इन तत्त्वों की उपस्थिति का कोई कारण नहीं बता सकेगा।”

यहाँ एक ही साँस में मैक्समूलर उपनिषदों के अनुवाद की निन्दा करते-करते उनके मूल कथ्य की भी निन्दा कर जाता है। इसे पढ़कर उन भारतवासियों की आँखें खुल जानी चाहिए जो यूरोपियन विद्वानों द्वारा किये गये संस्कृत ग्रन्थों के अनुवादों को परिपूर्ण सत्य मान बैठे हैं। तब कोई आश्चर्य नहीं कि इन्हीं गलत अनुवादों से विरक्त होकर गुरुदत्त विद्यार्थी ने अपने अर्धशिक्षित देशवासियों की भूलों का परिमार्जन करने का प्रयत्न किया। मुझे यह वाक्य उनकी ३० अगस्त १८८८ की डायरी में मिला, जहाँ वे लिखते हैं—“मैंने उपनिषदों पर मैक्समूलर के कथन को पढ़ा है। वह कितनी गलती पर है। कितने खेद की बात है कि ऐसा कोई नहीं जो उसकी गलती को सुधारे और अपने देशवासियों की मूर्खता का निवारण करें।” ६ सितम्बर को हम उन्हें इसी उच्च किन्तु प्रीतिकर कार्य में व्यस्त देखते हैं। उन्होंने अपनी डायरी में लिखा—“ईशोपनिषद् के कोई दो पृष्ठ लिखे। अभी प्रथम मन्त्र की व्याख्या ही समाप्त नहीं हुई है। किन्तु ज्यों-ज्यों मैं आगे बढ़ता हूँ विषय, अधिकाधिक आकर्षक, गम्भीर तथा विस्मयान्वित करने वाला बन रहा है। परिणाम यह होता है कि अधिक-से-अधिक एक या दो पृष्ठ ही लिख पाता हूँ।” ऐसा लगता है कि उपनिषद-व्याख्या का लेखन पं० गुरुदत्त ने बहुत ही प्रसन्नता के क्षणों में

आरम्भ किया था क्योंकि हम देखते हैं उस समय लेखक इन ग्रन्थों के मूल पाठ के सुगंधकारी अभिप्राय को अधिगत करने की मनःस्थिति में था। उसने दरवाजा खटखटाया ही था कि उसे इसमें प्रवेश मिल गया।^{१६} इसके दो दिन पहले ही, अर्थात् ५ सितम्बर १८८८ को उन्हें 'धर्म का वरदान' शीर्षक पर लिखते देखते हैं। इसमें उन्होंने लिखा कि धर्म के द्वारा मनुष्य को जो आनन्द मिलता है उसे समझने के लिए व्यक्ति को ईश्वरीय विधान की जानकारी होनी चाहिए। दो दिन बाद ही ईशोपनिषद् की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या करते हुए पं० गुरुदत्त ने धर्म की इसी उच्च धारणा को पुनः प्रस्तुत और प्रतिपादित किया।

ईशोपनिषद् की गणना दस उपनिषदों में एक ऐसी महत्त्व की वृत्ति रूप में होती है जो स्वामी दयानन्द की सम्मति में सर्वाधिक प्राचीन तो है ही, स्वयं वेद का ही एक अंश होने से परम प्रामाणिक भी है।^{१७} भारत के पौराणिक विद्वानों को छोड़कर विद्वत्-संसार के प्रकाण्ड पण्डितों में इस बात को लेकर कोई मतभेद नहीं है कि दस उपनिषद् ही प्राचीन तथा वास्तविक हैं।^{१८} वस्तुतः ईशोपनिषद् यजुर्वेद का ही एक भाग है, अतः स्वामी दयानन्द कृत वेदभाष्य में इस उपनिषद् के मन्त्रों पर एक मूल्यवान् एवं प्रामाणिक भाष्य हमें उपलब्ध है। किन्तु पं० गुरुदत्त द्वारा लिखी हुई इस उपनिषद् की व्याख्या का भी अपना महत्त्व है और जिस व्यक्ति ने इसे एक बार भी खुले दिमाग से पढ़ा है, वह यह स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता कि यह व्याख्या उनकी सर्वोत्तम कृति है। मन्त्रगत भावों को व्याख्यात करने की मौलिकता तथा उनके प्रतिपाद्य का विवेचन उनका नितान्त अपना है। उनकी भाषा उत्कृष्ट है तथा तर्क उच्च कोटि के हैं। सर्वप्रथम वे यह बताते हैं कि लोगों ने धर्म के कितने गलत अर्थ लगाये हैं। धर्म के नाम पर कृत्रिम, कल्पनापूर्ण, तथा मिथ्या सिद्धान्तों को बेचा गया है तथा संसार के ईमानदार और सत्य को जानने के इच्छुक लोगों के लिए आशा के सभी द्वार बन्द कर दिये गये हैं। इसके पश्चात् वे उस आधार को स्पष्ट करते हैं जिस पर सच्चा धर्म टिका हुआ है। उनकी दृष्टि में हमारी सारी शक्तियों और प्रवृत्तियों का सन्तुलित विकास ही धर्म है। हमारे ज्ञान और अस्तित्व की क्षमताओं का न्यायसंगत विकास ही धर्म है। इस प्रकार हम धर्म का

प्रथम पाठ सीखने की तैयारी करते हैं और इसे उपनिषद् के प्रथम मन्त्र के प्रथम पाद में उल्लिखित किया गया है। यह है समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव। जैसा कि लेखक कहता है—“जब तक मनुष्य प्रकृति के क्षणिक रूपों और दृश्य चमत्कारों को चीरकर प्रकृति के स्वामी परमेश्वर तक पहुँचना नहीं सीखता, वह व्यक्तिगत सुधार की शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता।” किन्तु मनुष्य को इस व्यक्तिगत सुधार का पाठ दिये जाने से पहले ही उसे नश्वर संसार के कपटपूर्ण सम्मोहन से आगाह कर दिया जाता है, अन्यथा वह दुनिया के मायावी आकर्षण में डूब सकता है। इस चेतावनी के साथ ही उसे न्याय के सिद्धान्त का अतिक्रमण न करने के लिए भी सचेत कर दिया जाता है, क्योंकि इसके बिना व्यक्ति का सुधीर असम्भव है और व्यक्ति के सुधार के अभाव में यह सारा संसार ही अराजकता एवं अव्यवस्था का शिकार बन सकता है।

इसलिए हमें दूसरों के धन को न छीनने के लिए कहा गया है। दूसरों के धन से लुब्ध न होना धर्म का निषेधात्मक पक्ष ही है जिसकी शिक्षा उपनिषद् देता है। इसके बाद धर्म के विधेयात्मक पहलू को बताया गया है। शुभ कर्मों को करता हुआ मनुष्य अपने पड़ोसियों के साथ शान्तिपूर्वक रहते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। न्याय और उपयोगिता के सिद्धान्तों का वर्णन करते हुए इन दोनों शिक्षाओं को सुन्दर रीति से समझाया है। यहाँ बताया गया है कि प्रकृति के कार्य की व्यवस्था कुछ इस रीति से की गई है कि प्राकृतिक नियमों का पालन करते हुए सबके हित में अपने हित को स्पष्टतया देखा जा सकता है। प्राकृतिक प्रवाह सार्वजनिक हित की भावना को लेकर ही प्रवाहित होता है।

प्रकृति केवल एक धर्म का उपदेश देती है और वह धर्म है प्रत्येक के और सबके सुख, स्वास्थ्य, मंगल, सद्गति के लिए कर्म, लगातार, अनथक और प्रबल कर्म करना।

उपर्युक्त शिक्षा को अधिक प्रभावोत्पादक रूप में प्रस्तुत करने के लिए उपनिषद् कर्त्तव्य से च्युत होने के परिणाम बताता है और कहता है कि जो लोग अपनी आत्मा के प्रतिकूल आचरण करते हैं, मृत्यु के पश्चात् वे निश्चित रूप से उन अन्धकारयुक्त लोकों को जाते

हैं जो दुष्ट प्रकृति वाली आत्माओं से परिपूर्ण हैं तथा जो अज्ञान-तमसाच्छन्न हैं। इसके बाद वाले मन्त्र में परमात्मा की वास्तविक उपासना तथा उसकी प्रणाली का निरूपण किया गया है, वह परमात्मा जो एक, अपरिवर्तनीय, शाश्वत, तथा ज्ञानयुक्त है तथा जो मन की शक्ति से भी अधिक शक्तिशाली तथा वेगवान् है।

यह कहा गया है कि भौतिक इन्द्रियाँ उसको देख नहीं पातीं, इसलिए उपासक ऋषि अपनी इन्द्रियों को उनके बाह्य स्थूल विषयों से हटाता है, इन्द्रिय-गोचर संसार से स्वयं को पृथक् कर लेता है, तथा योगजन्य समाधि की अवस्था में उस परमात्म तत्त्व को सर्वत्र देखता है। वह परमात्मा, जो सबको चलाता है, किन्तु खुद नहीं चलता, जो अज्ञानी से दूर है, किन्तु ज्ञानी के निकट है, जो इस दृश्य-मान संसार के भीतर और बाहर सर्वत्र है। जो व्यक्ति ईश्वर के ऐसे ध्यान में तल्लीन हो जाता है वह नितान्त उल्लसित होकर कहने लगता है—सभी प्राणी उस सर्वात्मा में विद्यमान हैं और वह सर्वात्मा सारे प्राणियों में निहित है। इस सर्वात्म-भाव को अपनाकर वह किसी भी प्राणी का तिरस्कार और निन्दा कैसे करे ?

ऐसे लोग जो अपनी विवेक बुद्धि के द्वारा उस एकात्म शक्ति को सारे प्राणियों में विद्यमान देखते हैं तथा जिसने उन प्राणियों का भी अतिक्रमण कर रक्खा है, जो सर्वथा आत्मा ही आत्मा है, जिसका कोई आकार नहीं, जिसका कोई अनुभव या इन्द्रिय विन्यस के योग्य सूक्ष्म या स्थूल शरीर नहीं, जो बुद्धि का शासक, स्वयंभू, शुद्ध, पूर्ण, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक है, ऐसे परमात्मा को देखकर वह व्यक्ति हर्ष एवं शोक से ऊपर उठ जाता है। सुख और दुख उसे कभी अभि-भूत नहीं कर सकते।

वे लोग धन्य हैं जो इस ईश्वर के ज्ञान का आनन्द लाभ करते हैं, जो जानते हैं कि यह सर्वव्यापक, दयालु पिता अनादिकाल से सभी प्राणियों को स्व कर्म के अनुसार उनके लिए पृथक् व्यवस्थाओं का विधान करता है। किन्तु वे लोग तो अधिक अभागे हैं जो अहंकार-वश ज्ञानी बनने का ढोंग करते हैं। (भारत का आज का पठित वर्ग, जो स्वयं को अपने पूर्वजों से भी अधिक ज्ञानी मानने का दमन करता है, इसी वर्ग में आता है)।

मन्त्र वर्णित अज्ञानी जनों के विपरीत जो लोग साधुस्वभाव युक्त,

दृढ़ धारणा वाले, बुद्धिमान् लोग हैं वे यह कहते हैं कि अविद्या (इन्द्रिय जन्य ज्ञान) का और ही फल है और विद्या (आत्मा से उत्पन्न ज्ञान) का फल उससे सर्वथा भिन्न ही है। किन्तु जो विद्या और अविद्या दोनों को जानता है वह अपनी इन्द्रियों का वशीकार कर तथा उन्हें आत्मा के अधीन रखकर इन्द्रियों के जीवन के कारण शारीरिक मृत्यु का उल्लंघन करके आत्मा के जीवन के द्वारा अमरत्व को प्राप्त हो जाता है।

यह सब बताकर उपनिषद् वैज्ञानिक अनीश्वरवाद तथा मूर्ति-पूजा की हानियों की घोषणा करता है। उसके शब्दों में वे लोग महा-दुखी हैं जो परमाणुओं को जगत् का निमित्त समझकर पूजते हैं परन्तु उनसे भी बढ़कर दुखी वे हैं जो परमाणुओं से बने हुए दृश्य-पदार्थों की उपासना करते हैं। किन्तु जो लोग इन दोनों को ठीक-ठीक समझकर उनका उचित उपयोग लेते हैं, उनकी क्या गति होती है? “जो मनुष्य दोनों का अनुभव कर लेता है, वह मृत्यु के उपरान्त, जो कि दृश्य पदार्थों की उपासना का फल है, अमरत्व का, जो कि परमाणुओं में प्रकट होनेवाली दिव्यशक्ति के अनुभव का फल है, उपभोग करता है।”

इस उपनिषद् के अवशिष्ट मन्त्र मनुष्य को धन, कामिनी अथवा सांसारिक सम्मान के लिए नहीं, बल्कि सत्य कर्तव्य का ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा देते हैं। किन्तु उपनिषद् का अन्तिम मन्त्र कहता है—सूत्रात्मा वायु इस अमर जीव को लेकर चला जायेगा और यह स्थूल शरीर भस्म हो जायगा। अतः हे क्रतु जीवात्मन्, तू ओम् का स्मरण कर तथा अपने कृत कर्मों का स्मरण कर। जिस प्रार्थना के साथ इस उपनिषद् की समाप्ति होती है उसे हम यहाँ उद्धृत करेंगे। वह प्रार्थना इस प्रकार है—“हे ज्ञान स्वरूप, आप ज्ञान के स्रोत हैं। हमारे भीतर ज्ञान का प्रवेश कराइये, हमें न्यायपरता की ओर ले जाइये, हमारे सारे दुर्गुणों को दूर कर दीजिये। इस कारण हम आपकी बारम्बार स्तुति एवं उपासना करते हैं तथा आपको बहुशः नमस्कार करते हैं।”^{७६}

पं० गुरुदत्त विद्यार्थी द्वारा व्याख्यात ईशोपनिषद् का यह सार संक्षेप हमने वर्णन किया। किन्तु जो लोग थोड़ी भी संस्कृत जानते हैं उनके लिए मैं इस व्याख्या की तुलना अन्य विद्वानों द्वारा की गई

व्याख्या से करके बताऊँगा। कई व्याख्याकारों के लिए ६ से लेकर १४ तक के ६ मन्त्र अत्यन्त कठिन सिद्ध हुए हैं। और कइयों ने इनके विविध, मनमाने, कल्पनाप्रधान किन्तु मूल अभिप्राय से विपरीत अर्थ कर मन्त्रों के वास्तविक अभिप्राय को ही नष्ट कर दिया है। दुर्भाग्य से ऐसे अर्थ करने वालों में ब्रह्मसमाज के संस्थापक राजा राममोहन राय भी हैं जिनके प्रति मेरी गहन श्रद्धा है। अब नवें मन्त्र को लें, जो इस प्रकार है—

अन्धन्तमः प्रविश्यन्ति येऽविद्यामुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥

राजा राममोहन राय इसका अनुवाद इस प्रकार करते हैं—

“शास्त्र वर्णित धार्मिक कृत्यों को करने वाले लोग जो अग्निहोत्र के द्वारा पवित्र अग्नि की पूजा करते हैं, जो ऋषियों, पितरों, इतर मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों के लिए बलि समर्पित करते हैं, किन्तु स्वर्गस्थ देवताओं की पूजा नहीं करते, वे अन्धकारयुक्त प्रदेशों में जाते हैं। इसके विपरीत जो धार्मिक अनुष्ठानों को विधिवत् करते हैं, तथा दिव्य शक्तियों की भी पूजा करते हैं, किन्तु पवित्र अग्नि, ऋषि-गण, पितर, इतर मनुष्य तथा लघु प्राणियों की होम, बलि आदि के द्वारा पूजा नहीं करते, वे पूर्वपिक्षा अधिक अन्धकारयुक्त लोकों में जाते हैं।”

मेरी विनम्र सम्मति में मन्त्र का यह अनुवाद मूल से उतना ही भिन्न है जितना भूमध्य रेखा से उत्तरी ध्रुव दूर है। ईशोपनिषद् के नवें मन्त्र के अनुवाद की अपेक्षा यह अर्थ राजा महोदय की कल्पना का नमूना ही कहा जाएगा। यदि यह माना जाए कि राममोहन राय ने किसी अन्य भाष्यकार के किये इस अर्थ को लिया है तो यही कहना होगा कि उस भाष्यकार ने मूल ग्रन्थ के वास्तविक अभिप्राय को अपने बुद्धिविलास-प्रसूत अर्थों से मिला दिया है। मूल मन्त्र में ऐसे कोई पद नहीं हैं जिनके अर्थ अग्नि, बलि, ऋषि, पितर, मनुष्य, स्वर्गिक देवता आदि होते हों और न ही मन्त्र में कोई ऐसा शब्द है जिसको दूर से भी उपर्युक्त शब्दों का वाचक कहा जाए। इन शब्दों का कोई सन्दर्भ या प्रसंग भी नहीं है।

मुझे आश्चर्य है कि राजा राममोहन राय ने मूल पाठ का यह आशय कैसे निकाल लिया, जबकि आलोच्य मन्त्र तो इतना सरल है कि साधारण संस्कृत जानने वाला, मिडिल स्कूल का एक विद्यार्थी

भी इसके शाब्दिक अभिप्राय को समझ सकता है। राजा द्वारा किये उपर्युक्त अर्थ को पं० गुरुदत्त कृत निम्न अर्थ से मिलायें—“वे लोग अत्यन्त दुखी हैं जो अविद्या की उपासना करते हैं परन्तु उनसे भी कहीं बढ़कर वे दुःखी हैं जो विद्या पर गर्व करते हैं।”

१०वाँ और ११वाँ मन्त्र तो नवें मन्त्र से ही सम्बद्ध है और उसमें व्यक्त भाव का ही विस्तार है। अतः इन दो मन्त्रों के राजा राममोहनराय कृत अर्थ भी स्पष्टतः गलत हैं। अब १२वें मन्त्र को देखें जो इस प्रकार है—

अन्धतमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥

इसमें भी नवें मन्त्र वाले ही पद अक्षरशः प्रयुक्त हुए हैं। केवल विद्या के स्थान पर सम्भूति पद पड़ा है। राजा राममोहन राय इसका अर्थ करते हैं—पूर्व सक्रिय इन्द्रिय पदार्थ जो आलंकारिक रूप में ब्रह्म कहलाता है। पं० गुरुदत्त ने इस पदार्थ का अर्थ “परमाणुओं से बने दृश्य पदार्थ” किया है। हम यह समझने में असमर्थ हैं कि राममोहन राय ने इस मन्त्र से ब्रह्म का अर्थ कैसे निकाल लिया ?

इस प्रकार उच्चाशय युक्त इन मन्त्रों के अर्थ को विकृत किया गया तथा शब्दों के ऐसे अर्थ तलाश किये गये जिनकी पुष्टि शब्द-कोशों तथा सामान्य बुद्धि से नहीं होती। तथापि इन्हीं महानुभाव के अनुयायी यह कहते नहीं थकते कि पं० गुरुदत्त और स्वामी दयानन्द द्वारा किये उपनिषद् के ये अर्थ क्लिष्ट कल्पनायुक्त हैं। इसी प्रकार उनके द्वारा किये १३वें और १४वें मन्त्रों के अर्थ भी विचित्र हैं। स्थानाभाव के कारण हम अन्य उद्धरण देने में असमर्थ हैं और पाठकों से ही निवेदन करते हैं कि वे उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर खुद अपने निष्कर्ष निकाल लें।

१६वें मन्त्र का पं० भीमसेन कृत^{१०} अर्थ राजा राममोहन राय के अर्थ से नितान्त भिन्न है तथापि यह भी उनका निजी अर्थ ही है। दोनों ने ही मूल मन्त्र की उपेक्षा की है। जहाँ तक मूल पाठ का सम्बन्ध है, मैं यही कहूँगा कि पं० गुरुदत्त ने शांकर भाष्य में आये पाठ को स्वीकार किया है क्योंकि उस समय तक यजुर्वेद के ४०वें अध्याय का दयानन्द कृत भाष्य छपा ही नहीं था, अतः उसे देखने का लाभ उन्हें नहीं मिल सका। गुरुदत्त ने स्वामी शंकराचार्य द्वारा

स्वीकृत पाठ को अपनाया, जो स्वामी दयानन्द द्वारा प्रकाशित पाठ से निम्न विवरणों के अनुसार भिन्न है—

पं० गुरुदत्त की पुस्तक में जो मन्त्र संख्या ६, १० और ११ पर आये हैं वे स्वामी दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य (४०वाँ अध्याय) में संख्या १२, १३, १४ पर आये हैं। और दयानन्द कृत भाष्य के मन्त्र संख्या ६, १०, ११ गुरुदत्त के ईशोपनिषद् भाष्य में १२, १३, १४ संख्याओं पर आये हैं। गुरुदत्त के भाष्य का १७वाँ मन्त्र स्वामीजी के भाष्य में १६वाँ मन्त्र है। इसके अतिरिक्त इसी १७वें मन्त्र का “कृतं स्मर” गुरुदत्त भाष्य में दो बार पढ़ा गया है जबकि दयानन्द भाष्य में यह एक बार, और वह भी अन्त में आया है। दयानन्द भाष्य में ‘कृतं स्मर’ के ठीक पहले, पं० गुरुदत्त भाष्य के ‘कृतो स्मर’ के स्थान पर ‘क्लिबे स्मर’ पढ़ा है। गुरुदत्त भाष्य का १८वाँ मन्त्र दयानन्द भाष्य में १६वाँ है। पुनः स्वामी भाष्य में जो मन्त्र १७वीं संख्या पर है वह गुरुदत्त द्वारा स्वीकृत पाठ में उसी रूप में नहीं है। वस्तुतः यह मन्त्र १५वें मन्त्र के अन्तिम भाग तथा गुरुदत्त भाष्य में उपलब्ध १६वें मन्त्र के अन्तिम तीन पदों को लेकर बना है। स्वामी भाष्य का ४०वाँ अध्याय १७वें मन्त्र पर समाप्त हो जाता है, जब कि गुरुदत्त के भाष्य में १८ मन्त्र हैं।^{५१}

चतुर्थ और छठे मन्त्र के पाठ में भी स्वल्प अन्तर है। तीसरे मन्त्र में गुरुदत्त “प्रेत्याभिगच्छन्ति” पढ़ते हैं जबकि स्वामी दयानन्द इसे ‘प्रेत्याभिगच्छन्ति’ पढ़ते हैं। इसी कारण दोनों के अर्थों में भी अन्तर आ गया है। इसी प्रकार छठे मन्त्र में गुरुदत्त “विजुगुप्सते” पढ़ते हैं जबकि दयानन्द के पाठ में “विचिकित्सति” आता है।

मैंने पं० गुरुदत्त और स्वामी दयानन्दकृत ईशोपनिषद् के भाष्यों की अनेक बार सावधानी से तुलना की है और मैं पूर्ण सत्यता एवं विनम्रता के साथ कह सकता हूँ कि दोनों का अभिप्राय मोटे तौर पर एक-सा ही है। दोनों का अन्तर भी बहुत स्पष्ट है। स्वामी दयानन्द का भाष्य उसके लेखक के संस्कृत भाषा पर असाधारण अधिकार का सूचक है, जो पं० गुरुदत्त में हमें दुर्भाग्य से नहीं मिलता, जबकि गुरुदत्त के भाष्य पर उस पश्चिमी विज्ञान का प्रभाव दिखाई देता है, जो उन्हें व्यापक रूप से उपलब्ध था। ज्ञान के पौरस्त्य और पार्श्वीय मतों का एक सुखद संगम गुरुदत्त के भाष्य में दिखाई

पड़ता है। जहाँ तक हमारी सीमित जानकारी है, पं० गुरुदत्त ही अकेले लेखक हैं जिनमें प्राच्य और प्रतीच्य का ऐसा सामंजस्य है, जबकि उनके मस्तिष्क पर पाश्चात्य विज्ञान का कोई अचानक प्रभाव नहीं पड़ सका था। पश्चिमी विद्या की आकस्मिक चकाचौंध ने उनके नेत्रों को स्तब्ध नहीं किया था, और वे वेदों में प्रतिपादित ईश्वर तथा आत्मा के अस्तित्व में सज्ञान एवं तर्कपूर्ण विश्वास रखते थे। ईशोपनिषद् के उपर्युक्त दोनों अनुवादों की तुलना पर हम पुनः आते हैं। मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि पाठों में रहे कुछ अन्तर के कारण उत्पन्न स्वल्प भिन्नता के अतिरिक्त दोनों में कोई अन्य महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं है।

चतुर्थ और १४वें मन्त्र के गुरुदत्त कृत अर्थ स्वामी दयानन्द द्वारा किये अर्थों से भिन्न दिखाई देते हैं किन्तु मेरे विचार से इसका एक कारण यह रहा है कि स्वामी दयानन्द के सरल भाष्य की तुलना में गुरुदत्त का अर्थ दुरूह और दुर्वोध लगता है। अन्ततः यही कहा जा सकता है कि यद्यपि पं० गुरुदत्त को स्वामी दयानन्द के भाष्य को देखने का अवसर नहीं मिला था, यदि मिलता तो वे अवश्य ही उसका अनुकरण करते। तथापि उन्होंने यह अनुमान कर लिया था कि अपने युग के इस महान् संस्कृत विद्वान् की लेखनी से कैसा भाष्य निकलेगा, और इसी तथ्य को ध्यान में रखकर हम एक संस्कृत विद्वान् के रूप में पं० गुरुदत्त विद्यार्थी की ख्याति को स्थापित कर सकते हैं।

माण्डूक्योपनिषद्—यह उन प्रामाणिक उपनिषदों में से एक है, जिसकी चर्चा ऊपर आ चुकी है। जिस प्रकार ईशोपनिषद् हमारे लिए वास्तविक धर्म का प्रतिपादन करता है उसी प्रकार माण्डूक्य उपनिषद् हमें वास्तविक उपासना की शिक्षा देता है। इस उपनिषद् की पं० गुरुदत्त कृत व्याख्या एवं मूल ग्रन्थ का अनुवाद उनके समस्त साहित्यिक लेखन में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा श्रेष्ठ है। इस व्याख्या में गुरुदत्त ने प्राचीन ग्रन्थों को बहुशः उद्धृत किया है तथा उनके उद्धरण बहुतायत से दिये हैं। इसी तथ्य से यह विदित होता है कि उनका ज्ञान कितना विस्तृत था और उनकी जानकारी कितनी विशाल थी। इस व्याख्या के आरम्भ में ही लेखक ने उपासना की परिभाषा करते हुए इसे सत्य धर्म का प्रथम अंग वर्णित किया है। साथ ही इसे आन्तरिक भावों की स्वाभाविक घोषणा कहते हुए सच्ची

उपासना को अकृत्रिम भाव, अगाध आकर्षण और आत्मा को निमग्न करने वाले भावों से परिपूर्ण बताया है। माण्डूक्योपनिषद् का वर्ण्य विषय इसी उपासना का प्रतिपादन करना है। “यह केवल परब्रह्म की, जो कि सनातन, सर्वव्यापक, और सृष्टि का परम आत्मा है, उपासना सिखलाती है। क्योंकि परमात्मा के ज्ञान, अनुभव और सच्ची भावना के बिना मन की उमड़ी हुई, प्रमुदित, और आनन्दमयी अवस्था के, जिसका दूसरा नाम उपासना है, अनुकूल और क्या वस्तु हो सकती है? केवल सनातन परमात्मा की उपासना का ही उपनिषदों में उपदेश है, इस सनातन परमेश्वर का नाम सब कहीं ओंकार है।”^{५२} प्रश्न होता है कि तब क्या किसी स्वाभाविक प्रणाली से ओम् को ब्रह्माण्ड का शासक कहा जा सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में योगदर्शन के व्यास भाष्य को उद्धृत किया गया है जो इस प्रकार है—“निश्चय ही प्रतीक रूप ओम् तथा जिसका वह प्रतीक है, इन दोनों का सम्बन्ध मात्र परम्परा प्राप्त नहीं, अपितु वास्तविक है और ओम् पद ही इस सम्बन्ध को स्पष्ट करता है। कारण यह है कि ईश्वरीय ज्ञान के जानने वाले अर्थात् वे योगी जिन्होंने साक्षात् कर लिया है, कि वाचक शब्द और वाच्य अर्थ में परस्पर सम्बन्ध क्या है, वे इसे एक निश्चित सत्य मानते हैं कि शब्द, उनके अर्थ, और उनका पारस्परिक सम्बन्ध मनुष्य की घड़न्त नहीं प्रत्युत नित्य है, अर्थात् प्रकृति में विद्यमान है।”^{५३}

इसी विचार को महर्षि पतंजलि ने अपने महाभाष्य के द्वितीय आन्हिक में सातवें माहेश्वर सूत्र^{५४} की व्याख्या करते हुए पुष्ट किया है जहाँ अक्षर की व्याख्या उसे शाश्वत और सर्वव्यापक कहकर की गई है। मैक्समूलर ने अपनी पुस्तक “भाषाविज्ञान पर व्याख्यान” में यही विचार प्रस्तुत किया है। “वे (धातु) शब्द-चिह्न हैं और मानव प्रकृति की सहज शक्ति से उत्पन्न हुए हैं। अफलातून के कथनानुसार वे स्वाभाविक हैं, यद्यपि अफलातून के कथन के साथ हमें यह और जोड़ देना चाहिए कि स्वाभाविक होने से हमारा अभिप्राय ‘ईश्वर के हाथ से बने’ हैं।”^{५५}

इस प्रकार हम देखते हैं कि मैक्समूलर, व्यास, पतंजलि तथा प्लेटो, ये सभी, जो क्रमशः आधुनिक यूरोप, प्राचीन तथा पुरातन यूनान का प्रतिनिधित्व करते हैं, सम्मिलित रूप से गुरुदत्त के निष्कर्षों

का समर्थन कर रहे हैं। आगे वे लिखते हैं—“ओम् का जप और मन में उसके अर्थ का नित्य ध्यान धरना, ये दो ईश्वरीय उपासना के मूलतत्त्व मानकर यह जानना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि एकाक्षर ओं का अर्थ क्या है, क्योंकि जप ध्यान करने का केवल एक आरम्भिक साधन है।” पुनः प्रश्न यह है कि इस अक्षर को इतना महत्त्व क्यों मिला है? “यह केवल इसलिए नहीं कि ओं शब्द अतीव कोमल, सुरीला, और सुगमता से बोला जा सकता है, न केवल इसलिए कि वे मात्राएँ, जिनसे यह ओम् शब्द बना है उस दूध पीते बालक के मुख से, बिना किसी प्रकार की शिक्षा के, अपने आप निकल जाती हैं, जो कि अभी ऊँ आं ही करने लगा है, प्रत्युत इसलिए कि उसके अर्थों में कोई वस्तु अधिक गूढ़, प्रिय और दिव्य है। यह सत्य है कि जहाँ परमेश्वर के दूसरे नाम सांसारिक पदार्थों के भी नाम हैं (यथा संस्कृत में ईश्वर नियन्ता का भी नाम है, यहाँ तक कि ब्रह्म सर्वव्यापक आकाश और वेदों का भी नाम है, अग्नि भौतिक आग का भी नाम है और ईश्वर का भी, इत्यादि) वहाँ ओम् केवल सनातन, सर्वव्यापक, विश्वात्मा का ही नाम है। यह युक्ति तो उसके निश्चित और परिमित अर्थों के लिए हो सकती है परन्तु उस अतीव उच्च महत्त्व के लिए जो कि उसके साथ लगाया जाता है यह कोई युक्ति नहीं। यह भी सत्य है कि संस्कृत के किसी अन्य ईश्वर वाचक शब्द की अपेक्षा ‘ओं’ के अर्थ अधिक व्यापक हैं, या दूसरे शब्दों में परमेश्वर जितने गुणों का इस एक अक्षर से बोध होता है उतना किसी और अकेले शब्द या अक्षर से नहीं होता। परन्तु यह भी गौण बात है। सबसे गूढ़ और वास्तव में सबसे भारी युक्ति यह है कि ओम् का अर्थ परमेश्वर के साक्षात् करने का मूल साधन है। ओम् अक्षर के वर्ण ध्यान के उस अनुक्रमिक पादों को अनुपम शुद्धता के साथ प्रकट करते हैं जिनसे कि मनुष्य ईश्वर के यथार्थ स्वरूप के साक्षात् करने के लिए प्रस्तुत होता है।”

“ईश्वर के इस साक्षात्करण की विधि उस विधि से सर्वथा विपरीत है जिससे कि मन बाह्य जगत् में कार्य करता है। यदि पिछली को बाह्य वृत्ति कहें अर्थात् मन की आन्तरिक शक्तियों को इतना फैलाना कि वे बाह्य जगत् में प्रकट हो जाएँ, तो पूर्वोक्त को अन्तर्वृत्ति कह सकते हैं अर्थात् मन का अपने आप में लय हो जाना।

यहाँ तक कि वे शक्तियाँ जो बाह्य स्थूल जगत् पर कार्य कर रही थीं बाहर से हटकर अधिक अन्तरीय कार्य के लिए भीतर आ जावें।”^{८७}

इसी विषय को उपनिषद् में सावधानी से समझाया गया है। मन्त्र संख्या एक और दो में यह बताने के पश्चात् कि ओम् क्या है, उस महान् ईश्वर की सत्ता की चार स्थितियों की व्याख्या की गई है और अन्त में कहा गया है कि यही चार अवस्थाएँ ओम् की चार मात्राओं द्वारा संकेतित हैं।

“प्रथम जागृत अवस्था वह है जिसमें ईश्वर बाह्य जगत् में व्यापक ब्रह्माण्ड रूपी शरीर के सप्त अंगों में अविरत क्रिया और प्रतिक्रिया कराता, विचार और परस्परांश्वय के उन्नीस करणों को, जिनसे प्राणधारी स्थूल जगत् में उपभोगों की तलाश कर सकते हैं, यथोचित विधान स्थिर करता और सृष्टि की भौतिक गतियों का ठीक क्रम और नियम के अनुसार प्रबन्ध करता है।”^{८८}

इसकी तुलना मनुष्य की जागृत अवस्था से की गई है जिसके अन्तर्गत रात और दिन में सम्पन्न की जाने वाली उसकी वे सब कार्य-प्रवृत्तियाँ समाविष्ट होती हैं, जब तक कि वह शय्या पर जाकर सो नहीं जाता तथा उसी अवस्था में स्वप्न देखना आरम्भ नहीं करता। इस अवस्था की तुलना एक घड़ी बनाने वाले की उस स्थिति से की जा सकती है जो अपने द्वारा निर्मित घड़ी की मशीनों, कल पुर्जों तथा उनकी नियमितता में सूक्ष्म रूप में विद्यमान है।

दूसरी अवस्था चिन्तन की है “इस अवस्था में ईश्वर का ध्यान इस प्रकार किया जाता है कि वह अभ्यन्तर रचना में निवास करके रचना के सप्त अंगों का परस्पर सम्बन्ध नियत करता है, अथवा परस्परांश्वय के उन्नीस करणों को अदृष्ट कार्यों के योग्य बनाता है, और इस प्रकार उन विभिन्न भावों को सुशृङ्खलित करता है जिनसे कि रचना बनी है, और जगत् का एक अदृश्य परन्तु अन्तरीय सावयवी शरीर रचता है।”^{८९} इसकी तुलना मनुष्य की स्वप्नावस्था तथा घड़ी बनाने वाले को उस स्थिति से की गई है जब वह घड़ी का ढाँचा अपने मस्तिष्क में ही बनाता है।

तीसरी अवस्था सुषुप्ति की है। “इसमें मनुष्य की आत्मा के सदृश जो कि सुषुप्ति अवस्था में अपने आप में निमग्न होती है, ईश्वर का ध्यान इस प्रकार किया जाता है कि वह स्वयं सर्व भावों और

नियमों की पूर्ति, पूर्ण आनन्दमय, केवल आनन्द ही का भोक्ता, परम विज्ञानमय और केवल अपनी चेतनता में ही प्रत्यक्ष है।^{१६} इसकी तुलना मनुष्य की उस स्थिति से ही की जा सकती है जब वह स्वप्न न देखता हुआ परिपूर्ण आनन्द के साथ प्रगाढ़ निद्रा में सोता है, हालाँकि उसकी जागृत अवस्था में काम करने वाली ज्ञान एवं कर्मेन्द्रियाँ तथा स्वप्न में नाना कार्य व्यापारों को देखने वाला मन उसके पास ही है। घड़ीसाज के दृष्टान्त में कहा जा सकता है कि यहाँ घड़ीसाज उस स्थिति में जब कि घड़ी को बनाने की सारी योग्यता और जानकारी उसे प्राप्त है, उसके पास उपयुक्त कलपुर्जे भी विद्यमान हैं, तथापि वह घड़ी बनाने के उद्देश्य में स्वयं को नहीं लगा रहा है।

आत्मा की चतुर्थ और अन्तिम अवस्था वह है जिसका वर्णन उपनिषद्कार ने 'नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं' कहकर इस प्रकार किया है। "न तो उसे आभ्यन्तरिक चित्र का चित्रकार, न सर्व बाह्य जगत् में व्यापक, न इन दो के बीच की अस्थिर अवस्था में, न ज्ञानस्वरूप, न इच्छामय चेतनता से परिपूर्ण, न चेतनता से रहित मानकर उसका चिन्तन करो। किन्तु उसे अदृश्य, अकाय, अगम्य, लक्षण रहित, अचिन्तनीय, अज्ञेय, अपने में केवल अपने को ही जानने वाला अर्थात् एक आत्मा, अद्वितीय, सर्वप्रपञ्चों से रहित, पूर्ण शान्त, आनन्दमय, एक और केवल एक समझकर उसका ध्यान करो।"^{१७}

इस अवस्था की तुलना मनुष्य के आत्म साक्षात्कार की अवस्था से की जा सकती है। घड़ीसाज के दृष्टान्त में यही कहेंगे कि यह कारीगर इस स्थिति में अपने रचना कार्य को सर्वथा विस्मृत कर स्वयं अपनी आत्मा में ही रमण करता है।

इस प्रकार यह महत्त्वपूर्ण उपनिषद् कूटस्थ, सर्वव्यापक, विराट् परमात्मा के चार पादों का विवेचन करता है जिसका वाचक ओम् है तथा जिसके तीन पादों का संकेत ओम् की अ, उ और म इन तीन मात्राओं से प्राप्त होता है। इन्हीं मात्राओं से अव्यय ओम् की रचना हुई है। "अ के गूढ़ अभिप्राय का ध्यान करते समय योगी अपने मन में सृष्टि के महान् विस्तार को देखता है, जिसमें कि महाशक्तिशाली नक्षत्र अपनी अपूर्व प्रभा के साथ शून्य मार्गों में निर्विघ्न चक्कर काटते हुए अनन्तता के समुद्र में ईथर (आकाश) के अदृष्ट और अत्यन्त सुन्दर तरंग उत्पन्न करते हैं। वह सृष्टि के महान् अर्थ का

चिन्तन करता है, क्योंकि, उपनिषद् के शब्दों में, सृष्टि का महान् विस्तार सनातन, सर्वव्यापक सत्ता के स्वभाव और गुणों का व्याख्यान रूप है।”^{६२}

हमारे सौरमण्डल के नमूने पर ब्रह्माण्ड की रचना को प्रमाणित करने के लिए पं० गुरुदत्त ने अथर्ववेद (काण्ड १० सूक्त ७ मन्त्र ३२-३४) को उद्धृत किया है। इन मन्त्रों की व्याख्या में उन्होंने भौतिक विज्ञान की अपनी विशद जानकारी का पूरा उपयोग किया है। इस व्याख्या में जैसा अभिव्यक्ति-कौशल उन्होंने दिखाया है तथा महत्त्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध कराई है उसे प्रदर्शित करने के लिए मैं एक लम्बा उद्धरण प्रस्तुत करने की धृष्टता करूँगा। “हम उस परम पूज्य परब्रह्म के पास (अपने ध्यान में) अत्यन्त पूजा भाव के साथ जाते हैं जिसने ब्रह्माण्ड के इस ढाँचे को अपने अस्तित्व का एक सजीव प्रमाण और अपने स्वभाव तथा गुणों का एक अत्यन्त अनुरूप पाठ बनाया है, और जिसने इस अद्भुत रचना में (१) सूर्य को उसके प्रकाशमान् वायुमण्डल सहित मस्तिष्क का, (२) सूर्य और पृथ्वी के मध्यस्थ अन्तरिक्ष को उदर का, और (३) पृथ्वी (सब नक्षत्रों के नमूने) को नीचे के शरीर या पैरों का स्थान दिया है। हम उस परम सत्ता का पूजन करते हैं, जिसकी सृष्टि में (४) सूर्य और चाँद दो आँखें हैं, और (५) ताप मुख है। हम उस परमेश्वर की आराधना करते हैं जिसने (६) वायुमण्डल को उस रचना के फेफड़े और (७) दिशाओं को उसके कान बनाया है। आओ, हम उस अनन्त, और सब विद्याओं के स्रोत परमात्मा की उपासना करें।”

“यहाँ उपासक के ध्यान के लिए सृष्टि रचना की पूर्ण व्यवस्था दिखलाई गई है। क्योंकि, क्या सूर्य अपने वायुमण्डल सहित इस रचना का मस्तिष्क नहीं है? मनुष्य शरीर में मस्तिष्क, जिसका पारिभाषिक नाम बृहत् मस्तिष्क और लघु मस्तिष्क है, संशोधित सूक्ष्म तत्त्वों से बना है, वह प्राणभूत शक्तियों का उत्पादक और नाड़ी सम्बन्धी बल का स्थान है, वह शरीर के सभी व्यापारों और गतियों का नियन्ता है। सूर्य भी, मस्तिष्क के सदृश, संशोधित सूक्ष्म तत्त्वों का संचय, चुम्बक विद्युत् रूप, उष्णता, गति, और किरण-विकिरण विषयक शक्तियों को उत्पन्न करने वाला अत्यन्त प्रबल, यन्त्र, दाह्य और वृद्धिशील बल और उस बल का आश्रय जिसे भूगर्भशास्त्र की परि-

भाषा में 'सर्वएरियल डीन्यूडेशन' या 'भूमिस्थ पर्वत संघर्ष' कहते हैं, और नक्षत्र तथा धूम्रकेतु सम्बन्धी सर्व गतियों का नियन्ता है। वायुमण्डल से परिपूर्ण अन्तरिक्ष वस्तुतः आमाशय, या भोजन को पचाने वाला करण है; जोकि उन पदार्थों को सूक्ष्म और संशोधित करता है जोकि उसे दिए जाते हैं। वायुमण्डल में ही वादल बनते, भापें सूक्ष्म होतीं, बिजली की धाराएँ उत्पन्न होतीं, पार्थिव लवण और धातुओं के बाह्य कण वाष्प रूप में उड़ते हैं, और इन सर्व क्रियाओं के फल फैलते और मिश्रित होते हैं, यहाँ तक कि सब कुछ मिलकर एक समभाव तरल पदार्थ बन जाता है, और वायुमण्डल के निचले स्तरों से ऊपर चढ़कर जम जाता है, और वहाँ से फिर निर्मल, महोपयोगी, वनस्पति जीवनदाता वर्षा के रूप में बरसता है। ठीक इसी प्रकार आमाशय, उसमें पड़ने वाले भोजन को सूक्ष्म और शुद्ध करके रसीले अंशों में से अरुण प्राणभूत रस के तत्त्व निचोड़ लेता है, और वर्षा के सदृश हृदय पर बरसाता है। परन्तु आमाशय में प्रवेश करने से पूर्व पदार्थों को मुख में से गुजरना पड़ता है। मुख अपने जबड़ों की सहायता से ठोस भोजन को बारम्बार चबाता है, यहाँ तक वह बारीक होकर और थूक के साथ मिलकर एक तरल पदार्थ बन जाता है। इसी प्रकार पार्थिव पदार्थ वायुमण्डल रूपी आमाशय में प्रवेश करने के पहले, ताप रूपी मुख में से गुजरते हैं। क्योंकि वह कौन-सी नाली है जो पार्थिव पदार्थों को उच्चतर मण्डलों में ले जाती है? वह क्या है जो पृथ्वी के दृढ़ ठोस पदार्थों को पीसता, छिन्न-भिन्न करता, और भाप के समान सूक्ष्म बना देता है। या वह क्या है जो इन पदार्थों को प्रकृति के थूक अर्थात् जल में घोल देता है? यह सारा काम ताप करता है। ताप के चंचल, प्राणप्रद, और थरथराने वाले विकंपनों के वशीभूत होकर ठोस पदार्थ तरल, और तरल पदार्थ वाष्प बन जाते हैं। ताप से ही, इस प्रकार सूक्ष्म बने हुए वाष्पमय परमाणु उष्णता के पदों पर सवार होकर ऊपर के अपेक्षाकृत शीतल मण्डलों में ले जाये जाते हैं। ताप ही तरल सरोवर में से वायुमण्डल के जलमय तत्त्वों को चाट जाता है। जिस प्रकार मुख भोजन और आमाशय के मध्यस्थ है ठीक उसी प्रकार ताप पार्थिव पदार्थों और वायुमण्डल के मध्यस्थ है। पैर शरीर का सबसे निचला भाग है। यह मस्तिष्क रूपी सिंहासनारूढ़ राजा की आज्ञानुवर्तिता का चिह्न है। यह उस गति-

जनक आवेग की आज्ञा का पालन करता है जोकि नाड़ियों के द्वारा मस्तिष्क उसके पास भेजता है। इसी प्रकार पृथ्वी अन्तरिक्ष के आकाशमय मार्गों के द्वारा उस तक पहुँचने वाले सूर्य के प्रभाव को मानती है। मनुष्य के शरीर में नेत्र इसलिए बने हैं जिससे वह रंगों को देखने और सुन्दरता को परखने में समर्थ हो।”

“इसी प्रकार सूर्य के प्रकाश की किरणों, जिनको मन्त्र में अंगरिस कहा है, दृश्यमान जगत् को प्रकट करती हैं, इस प्रकार सृष्टि से उनका वही सम्बन्ध है जोकि आँख का मानव देह से है। मनुष्य के फेफड़े न केवल धौंकनी के समान पवन को भीतर ले जाने और फिर उसे बाहर निकाल देने, या रक्त में ऑक्सीजन नामी शुद्ध वायु मिलाने के ही योग्य हैं, प्रत्युत वे मस्तिष्क को प्रत्यक्ष रूप से बल-प्रदान करते वाले अदृश्य तत्त्वों को भी भीतर खींचने में समर्थ हैं। इसी प्रकार वायुमण्डल न केवल वाष्पाकार कणों को आकर्षित करने या उड़ते हुए पार्थिव कणों को दूर हटाने के ही योग्य हैं प्रत्युत वह पृथ्वी से, विशेषतः दोनों ध्रुवों पर, मानो दोनों रक्तकोषों (फेफड़ों) से, ऋणात्मक और धनात्मक बिजली की धाराओं को खींचने में भी समर्थ हैं। बिजली की ये धाराएँ पृथ्वी को सदा के लिए छोड़ जाती हैं।”^{६३}

अथर्ववेद में प्रतिपादित यही सिद्धान्त यजुर्वेद (३१।१३)^{६४} तथा मुण्डकोपनिषद् (२।१।४)^{६५} से भी अनुमोदित होता है। यहाँ भी मानवी शरीर की तुलना परमात्मा के विराट् शरीर से इसी प्रकार की गई है। इसे स्पष्ट करने के लिए मुझे पं० गुरुदत्त की विवेचना को ही उद्धृत करना होगा, इसलिए मैं पाठकों से अनुरोध करूँगा कि वे इस विषय को उनके मूल ग्रन्थ में ही देखें। यहाँ वे लिखते हैं—“सृष्टि की आन्तरिक वनावट में ईश्वर का उसके नित्य मानचित्रों में, ध्यान करना उसकी दूसरी अवस्था, अर्थात् चिन्तन अवस्था (जिसका पारिभाषिक नाम स्वप्नावस्था है) में चिन्तन करना है। इस अवस्था में यद्यपि हम परमेश्वर को बाह्य प्रकृति पर क्रिया करते और इसको नाना रूपों में विनियुक्त करते नहीं देखते, फिर भी हम उसे, स्वप्नावस्था की तरह, प्रकृति के परमाणुओं को जोड़ते, उन्हें अपने-अपने स्थानों में संचित और विनियोजित करते, और अन्त में एक सर्वथा पूर्ण मानचित्र आन्तरिक रीति से सोचते देखते हैं।

मानो हम परमेश्वर को भौतिक सृष्टि से अलग होकर जगत् की निर्माण विधि का चिन्तन करते हुए देखते हैं।”^{६६}

परमात्मा के इस दर्शन के उपरान्त जोकि ओम् की उ मात्रा से व्यक्त होता है योगी तीसरी अर्थात् सुषुप्ति स्थिति की ओर जाता है जहाँ “परमात्मा को सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता और सर्वकर्तृत्व का, अत्यन्त नियमपरता, सामंजस्य और पूर्णता के साथ, बिना इच्छा के प्रयत्न अथवा मस्तिष्क के दीर्घ परिश्रम से तैयार किए नक्शे के, केवल उन सनातन, स्वतः ज्ञानवान् नियमों और भावों की स्वाभाविक क्रिया से, जिनकी मूर्ति कि वह आप हैं, प्रयोग करते हुए देखा जाता है।”^{६७}

चौथा कोई मात्रा या वर्ण नहीं है, बल्कि यही सत्य अनिर्वचनीय नाम है। इस प्रकार “ओम् की तीन मात्राओं का ठीक तौर पर यथाक्रम चिन्तन करने से उपासक इस संसार के दुःखों से छूट जाता है। प्रथम मात्रा के चिन्तन से उसे अस्तित्व की सबसे उन्नत अवस्था, जो इस जगत् में सम्भव हो सकती है, मिलती है। दूसरी का चिन्तन उसे आध्यात्मिक जगत् के आनन्दों से भर देता है, और अन्तिम मात्रा के ध्यान से उसे मोक्ष अर्थात् अमरत्व प्राप्त होता है।”^{६८}

माण्डूक्योपनिषद् का एक अनुवाद आर्चिबाल्ड गफ एम० ए० ने भी किया है। इस अध्याय के आरम्भ में हमने उनके उन विचारों को कुछ विस्तार से उद्धृत किया है जहाँ उन्होंने उपनिषद्-दर्शन की गम्भीरता को नकारा है। उसके मत को सही रूप में प्रदर्शित करने के लिए मैं इन महानुभाव कृत माण्डूक्योपनिषद् के अनुवाद को पं० गुरुदत्त के अनुवाद के साथ प्रस्तुत करूँगा। उपनिषद् के प्रथम मन्त्र में प्रयुक्त ‘अक्षर’ का अर्थ मि० गफ ने ‘वर्ण’ किया है जबकि इसका सही अर्थ ‘अनश्वर शाश्वत ब्रह्म’ होता है। महाभाष्य में पतंजलि ने इस पद का यही अर्थ किया है जिसके आधार पर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भी ‘अक्षर’ का यही अभिप्राय लिया है। इसी मन्त्र में ‘सर्व’ का प्रयोग दो बार हुआ है जिसका अर्थ मि० गफ ने ‘तमाम’ किया है और इस प्रकार ‘सर्वमो-कारएव’ का अर्थ ‘सब कुछ ओम्’ और ‘केवल ओम्’ किया है। वस्तुतः सर्व का यहाँ अर्थ ‘पूर्ण’ से लिया जाना उचित है। इसकी पुष्टि में निरुक्त परिशिष्ट अध्याय १४ काण्ड १३, १४ द्रष्टव्य हैं।

पुनः मि० गफ द्वारा दूसरे मन्त्र के अनुवाद को पं० गुरुदत्त के अनुवाद से मिलाकर देखें। वहाँ वह लिखता है—“इसलिए यह सारा संसार ही ब्रह्म है, यह आत्मा भी ब्रह्म है और यही आत्मा चतुष्पाद है। (गफ ने पाद का अर्थ चतुर्थांश किया है, जबकि पद को अवस्था या स्थिति का वाचक उसके धातु के आधार पर कहना अधिक उचित है) यही गलती द्रवें मन्त्र की व्याख्या में हुई है जहाँ वह लिखता है—“यही आत्मा (तीन) अक्षरों (वर्णों) में प्रदर्शित किया गया है। ये अक्षर ही ओम् के चतुर्थांश हैं—अ, ऊ, और म।”

संस्कृत के इसी अल्प ज्ञान के द्वारा ये महानुभाव अंग्रेजी भाषा में अनुवाद कर उपनिषदों के अभिप्राय को उच्च सोपान पर उपस्थित करने का दम्भ करते हैं। अच्छा ही कि भावी पीढ़ी को ही इन अनुवादों पर विचार करने का अधिकार दे दिया जाय। हम सोचते हैं कि उनका फैसला उचित ही होगा। उपनिषद् साहित्य में माण्डूक्य संक्षिप्ततम तो है ही, अत्यधिक रहस्यात्मक भी है और कोई इस सचाई से इन्कार नहीं करेगा कि पं० गुरुदत्त ने अपनी व्याख्या के द्वारा इसके साथ पूरा न्याय किया है।

मुण्डकोपनिषद्—

मुण्डक तीसरा उपनिषद् था जिस पर व्याख्या लेखन का कार्य पं० गुरुदत्त ने आरम्भ किया। वे इसका अनुवाद तो पूरा कर गये किन्तु हमारे दुर्भाग्य से वे इसकी व्याख्या को पूरा लिखने के पहले ही स्वर्ग सिधार गये और हम अभागे लोग उस प्रकाश से वंचित रह गये जो हमारे अनेक हताश भाइयों को मार्ग दिखाता और उन लोगों को आशा के द्वार तक पहुँचाने वाले प्रशस्त राजमार्ग को दृष्टिपथ में लाता, जो उसे पूर्णतया भूल चुके हैं। हाँ, यदि वे इस टीका को पूरा कर जाते तो अनेक भ्रमित बुद्धि वाले किन्तु श्रेष्ठ पुरुषों के हृदय में उत्साह और उमंग के भाव लहराने लगते।

हमारी चेष्टा रहेगी कि हम इस उपनिषद् की व्याख्या पाठकों के लिए प्रस्तुत करें, किन्तु भविष्य में की जाने वाली किसी अन्य व्याख्या का हमारी इस पुस्तक से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए मैं पं० गुरुदत्त कृत उपनिषद् के इस अनुवाद की श्रेष्ठता और गुणवत्ता को अन्य अनुवादों से तुलना करके ही सिद्ध करूँगा। मैंने गुरुदत्त के

अनुवाद की तुलना मैक्समूलर, गफ, राजा राजमोहन राय तथा पं० भीमसेन कृत अनुवादों से की है। आगे मैं इसके कुछ अंशों के अनुवाद की उपर्युक्त अनुवादकों के द्वारा किये उन्हीं अंशों के अनुवादों के साथ तुलना करके पेश करूँगा। हम मुण्डकोपनिषद् के प्रथम मन्त्र से ही आरम्भ करते हैं जो इस प्रकार है—

ब्रह्मादेवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।

स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्यां प्रतिष्ठापयित्वा ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥

गफ इसका अनुवाद इस प्रकार करता है—ओम्, देवों में ब्रह्मा ही सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, वह संसार का कर्त्ता और सब लोकों का रक्षक था। उसने ब्रह्म-विद्या को जाना और अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को उसका प्रवचन किया।

अब इसकी तुलना राजा राममोहन राय कृत अर्थ से करें—

“ब्रह्मा जो देवों में सर्वोपरि थे, जो सृष्टि के रचयिता तथा संसार के रक्षक माने जाते हैं, सर्वप्रथम प्रकट हुए। उन्होंने उस ब्रह्म-विद्या का उपदेश अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को प्रदान किया, जो अन्य सभी विद्याओं का आधार है।”

अब उपर्युक्त दोनों अनुवादों की तुलना मैक्समूलर कृत अनुवाद से करें—देवों में ब्रह्मा ही पहला था, जो विश्व का रचयिता और संसार का रक्षक था। उसने सभी विद्याओं के स्रोत ब्रह्म-विद्या का उपदेश अपने बड़े पुत्र अथर्वा को दिया।

इन अनुवादों पर कोई टिप्पणी करने से पूर्व मैं पं० गुरुदत्त का अनुवाद दे रहा हूँ, जो इस प्रकार है—“विद्वानों में सबसे पहला विद्वान् ब्रह्मा था जोकि प्रकृति के नियमों का पूर्ण ज्ञाता और निपुण शिल्पी था। वह मनुष्य जाति का रक्षक था। उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को ब्रह्मविद्या सिखलाई, जोकि बाकी सब विद्याओं में श्रेष्ठ है।”^{६६}

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस मन्त्र के उपरि उद्धृत दो अनुवाद मूल से बहुत दूर हैं। ये अनुवाद उपनिषद् की मूल भावना से भी परे हैं। क्योंकि वहाँ तो परमात्मा को निराकार ही कहा गया है। इसके लिए इसी उपनिषद् के प्रथम खण्ड के छठे मन्त्र^{१०} को देखना चाहिए जिसका अर्थ उपर्युक्त अनुवादकों ने प्रायः एक-सा ही किया है। यदि इनमें थोड़ा अन्तर है तो वह केवल शब्दों के प्रयोग का ही है। मन्त्र

कहता है कि वह ब्रह्म अदृश्य, अगोचर, जन्म रहित, तथा अगोत्र है। मैक्समूलर तथा अन्यो ने इसे जाति रहित कहा है। वह चक्षु, श्रोत्र, पाणि और पाद से भी रहित है। इसी प्रसंग में द्वितीय मुण्डक के प्रथम खण्ड का दूसरा मन्त्र^१ भी देखें जो हमें बताता है कि वह दिव्य पुरुष अविनाशी, शरीर रहित, सर्वव्यापक, बाहर और भीतर सर्वत्र उपस्थित, अजन्मा, प्राण और मन से रहित, शुद्ध, सर्वत्र परिपूर्ण तथा सर्वत्र विद्यमान, ईश्वर (आकाश) यहाँ तक कि मनुष्य की आत्मा से भी सूक्ष्म है। जब उपनिषद् ने ब्रह्म का ऐसा रूप प्रतिपादित किया है तो वह प्रथम मन्त्र में उसे उत्पन्न हुआ कैसा बता सकता था। अतः राममोहन राय और गफ द्वारा 'स्वयंभू' का अर्थ 'उत्पन्न हुआ' या 'आकार धारण करना' सर्वथा गलत है। अपेक्षाकृत मैक्समूलर और गुरुदत्त का अर्थ ठीक है जिनके अनुसार 'स्वयंभू' का अर्थ भूतकालिक क्रिया 'था' किया जाना चाहिए। मैक्समूलर की एक बुद्धिमानी यह भी मानी जायगी कि उसने 'देव' और 'ब्रह्म' इन शब्दों को यथावत् रहने दिया। इनके अर्थ देवता या स्वर्गीय प्राणी और आत्मा नहीं किये, जो अन्यो ने किये हैं। पुनः 'कर्ता' शब्द के अर्थों में भी हमें बहुत अन्तर दिखाई देता है। इसका जो अर्थ पं० गुरुदत्त ने लिखा है वह बहुत ठीक है।

अब आठवें मन्त्र के अनुवादों को देखें। मन्त्र इस प्रकार है—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।

अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसुचामृतम् ॥

गफ और मैक्समूलर द्वारा किये अर्थ विचित्र से लगते हैं। गफ का अर्थ इस प्रकार है—तप से ब्रह्म की वृद्धि हुई। इसके बाद भोजन प्रकट हुआ जिससे आगे चल कर प्राण, मन, सत्य, लोक, और जीवों के कर्म तथा अमृत उत्पन्न हुए। मैक्समूलर इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार करता है—

तप के द्वारा ब्रह्म में वृद्धि हुई। इससे पश्चात् भोजन उत्पन्न हुआ, उससे प्राण, मन, सत्य, सातलोक तथा अमृत की उत्पत्ति हुई।

इन दोनों अनुवादों की तुलना राममोहन राय कृत अनुवाद से करें—“अपनी सर्वशक्तिमत्ता से परम ब्रह्म ने संसार को बनाने का निश्चय किया। उससे विश्व की कारण रूपा प्रकृति उत्पन्न हुई। उससे अन्न और प्राण बने। इनसे पाँच तत्त्वों की उत्पत्ति हुई। उनसे

संसार के सप्त लोक उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् याज्ञिक कर्म और उनका फल अमृत उत्पन्न हुआ।”

मुझे आश्चर्य होता है कि गफ और मैक्समूलर ने तपस का अर्थ क्रमशः (Coersion) (जोर जबरदस्ती) और (brooding) (चिन्ता) क्यों किया ? मैक्समूलर ने पृष्ठ २८ पर दिये अपने पादटिप्पण में पाराशर स्मृति (पृष्ठ ३६) के प्रमाण से यह माना है कि ‘तप’ धातु के दो अर्थ होते हैं, प्रथम जलना और दूसरा चिन्तन करना। अब पाठक स्वयं निर्णय करें कि गफ और मैक्समूलर के द्वारा किये गये ‘तपसा’ के उपर्युक्त दोनों अर्थ कितने विचित्र बन गये हैं ?

यह सत्य है कि इन गहन गम्भीर उपनिषदों के ऐसे ही अनुवादों ने इन ग्रन्थों को अर्थहीन और हास्यास्पद वचनों का संग्रह बना दिया है। ब्रह्म तप के द्वारा कैसे वृद्धि को प्राप्त होगा ? इन सभी त्रुटिपूर्ण अनुवादों को पं० गुरुदत्त के निम्न अर्थ से मिलाइये—“जब वह परमात्मा सृष्टि का चिन्तन करता है तो यह जगत् भौतिक आकार में प्रकट हो जाता है और वहाँ से अन्न, प्राण, मन, सत्य, उत्पत्ति, पुण्य, कर्म और अमरत्व विकसित होते हैं।”^{१२}

मूल मन्त्र के गाम्भीर्य को पं० गुरुदत्त कृत अनुवाद में जिस प्रकार सुरक्षित रखा गया है उसकी तुलना में मैक्समूलर और गफ द्वारा किये गये अनुवाद फूहड़ और भद्दे दिखाई पड़ते हैं।

इसके आगे के मन्त्र^{१३} के व्याख्यान में, जो उपर्युक्त मन्त्र से सम्बद्ध ही है, इन विदेशी अनुवादकों ने और भी भयंकर भूल को है। उनके अनुवादों से यह ध्वनि निकलती है कि ब्रह्म से ब्रह्म उत्पन्न हुआ। वास्तविकता यह है कि यहाँ मन्त्र की द्वितीय पंक्ति में आया ‘ब्रह्म’ ब्रह्माण्ड का वाचक है। अन्यथा यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ब्रह्म खुद कैसे उत्पन्न हुआ ? इन विदेशी अनुवादकों ने तो मानो यह निश्चय ही कर लिया है कि उनके अनुवाद में संगति हो या असंगति, वे तर्क-युक्त हों या तर्क-रहित, उन्हें मूल का अर्थ समझ में आये या नहीं, वे इन उपनिषदों का अनुवाद तो करेंगे ही, चाहे उनका यह अनुवाद अर्थहीन बकवास ही क्यों न बन जाये। परमात्मा ऐसे हठी, दुराग्रही तथा खतरनाक मित्रों से उपनिषदों की रक्षा करे।

पुनः प्रथम मुण्डक के द्वितीय खण्ड के पहले मन्त्र^{१४} की व्याख्या में यूरोपियन विद्वानों ने मूल के अभिप्राय को समझने में अपने अज्ञान

का परिचय दिया है। गण ने इसका अनुवाद इस प्रकार किया है—

यह सत्य है, ऋषियों ने मन्त्रों में जिन कर्मों को देखा, वे त्रेता युग में व्यापक रूप से प्रचलित थे।

मैक्समूलर ने भी थोड़े से शब्दों के परिवर्तन के अतिरिक्त लग-भग ऐसा ही अर्थ किया है। अब इसकी तुलना पं० गुरुदत्त के अर्थ से करें जो इस प्रकार है—“यह सत्य है कि जिन मन्त्रों में शुभकर्मों के करने का आदेश था, उनको ऋषियों ने तीन संहिताओं में विभक्त किया। उन कर्त्तव्यों को नियमपूर्वक और यथोचित कामना के साथ करो। यह वह मार्ग है जो उन लोकों को ले जाता है जहाँ कि पुण्य कर्मों के फल बँटते हैं।” यह अनुवाद उपर्युक्त दो अनुवादों की अपेक्षा अधिक तर्कपूर्ण, सुसंगत, युक्तियुक्त तथा समुचित अर्थ वाला प्रतीत होता है। यहाँ तक कि मैक्समूलर को भी मन्त्रगत ‘त्रेता’ शब्द का अर्थ युग विशेष से लेना बहुत उपयुक्त नहीं लगा। इसलिए उसे पृष्ठ ३० पर इस मन्त्र के अनुवाद में पादटिप्पणी देते हुए यह लिखना पड़ा—“मैं ‘त्रेता’ का अर्थ त्रयी विद्या से लेना अधिक पसन्द करूँगा। किन्तु त्रेता युग को उसमें किये जाने वाले यज्ञों के कारण विशिष्टता प्राप्त हुई, यह धारणा ही बाद के काल की है।” अब आप पादटिप्पणी में व्यंजित ‘त्रेता’ के अर्थ को अनुवाद पर आरोपित करें। दोनों का अन्तर स्वतः ही स्पष्ट हो जाएगा।

राजा राममोहन राय ने इस मन्त्र का अर्थ अपनी विशिष्ट शैली में किया है जो उपर्युक्त तीनों से भिन्न है। बहुत करके इससे पं० गुरुदत्त के अनुवाद की ही पुष्टि होती है। वे लिखते हैं—“वसिष्ठ जैसे बुद्धिमान् पुरुषों ने जिन कर्म-काण्डों का विधान किया है वे प्रायः वेदों में उपलब्ध होते हैं और उनके अभीष्ट उत्तम परिणाम भी निकलते हैं। इतने कर्मों को ब्राह्मणों में विद्यमान तीन कोटि के ऋत्विकों ने सम्यक् रूप से किया है। इनके नाम हैं—यजुर्वेद को भली भाँति जानने वाला अध्वर्यु, सामवेद का विशेषज्ञ उद्गाता और ऋग्वेद का जानकार होता।” ऐसा लगता है कि होता, अध्वर्यु और उद्गाता विषयक प्रसंग को अनुवादक ने इसमें इसलिए जोड़ा है ताकि मन्त्र का अभिप्राय और अधिक स्पष्ट हो जाये। यदि वह ऐसा नहीं करता तो अनुवाद में अस्पष्टता बनी रहती। इस सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि गुरुदत्त का किया अनुवाद सर्वश्रेष्ठ है। वस्तुतः यह

सर्वथा युक्ति-सिद्ध, सुसंगत तथा अन्य अनुवादों की अपेक्षा मन्त्रगत भाव को स्पष्ट करने में सर्वाधिक समर्थ है। मैं कुछ और उदाहरण देता, किन्तु इससे ग्रन्थ के आकार में वृद्धि होने का भय है। अपने अनुवाद में इन त्रुटियों और कमियों के होते हुए भी मैक्समूलर यह स्वीकार करता है कि उसका यह अनुवाद सर्वत्र शाब्दिक ही नहीं है। वह स्वयं लिखता है, "हमने अपने अनुवाद पर खुद ही अपनी नियन्त्रण व्यवस्था लागू की है। हम सर्वत्र शाब्दिक अर्थ नहीं कर रहे हैं। सामान्यतया इन मुद्दों पर बहस नहीं की जा सकती, किन्तु प्रत्येक अनुवादकर्ता यह जानता है कि अनेकत्र यदि हम मात्र शब्दानुवाद ही करेंगे तो निश्चय ही गलत अर्थ पर पहुँच जायेंगे।" जब मैक्समूलर भी शाब्दिक अनुवाद को अच्छा नहीं मानता तो इसमें आश्चर्य ही क्या कि मूल अभिप्राय के सर्वथा तिरोहित हो जाने की आशंका से पं० गुरुदत्त ने शब्दानुवाद से अपने को दूर ही रक्खा है। उपनिषदों का गहन गम्भीर प्रतिपाद्य एकाधिक स्थानों पर रहस्यात्मक शब्दावली में अभिव्यंजित हुआ है अतः इसके अर्थ को जानने के लिए उच्च संस्कृत का अच्छा ज्ञान तो चाहिए ही, उसकी अर्थ प्रणाली की परिपूर्ण जानकारी भी आवश्यक है। दूसरी ओर हम देखते हैं कि यूरोपियन विद्वानों ने इस दिक्कत की प्रायः उपेक्षा ही की है। उपनिषदों के अत्यधिक रहस्यपूर्ण और क्लिष्ट प्रसंगों का अर्थ करते समय उन्होंने इनमें प्रयुक्त शब्दों के साधारण अर्थ ही किये हैं। इस प्रकार उपनिषदों की यह बहुमूल्य सामग्री बहुत कुछ अर्थहीन शब्दाडम्बर बनकर रह गई है, जिससे कुछ भी अभिप्राय नहीं निकलता। इसी क्षेत्र में पं० गुरुदत्त विद्यार्थी की सेवाओं की सर्वाधिक आवश्यकता थी, और इसे हम दुर्भाग्य ही कहेंगे कि उस मनीषी विद्वान् की विद्वत्ता का जो लाभ हमें प्राप्त होना था, उससे हम इतनी जल्दी और अचानक ही वंचित हो गये।

अध्याय १२

पं० गुरुदत्त के अन्य ग्रन्थ

पं० गुरुदत्त द्वारा लिखित अन्य स्फुट ग्रन्थों को संग्रहीत करना चाहे कितना ही वांछनीय क्यों न हो, प्रायः यह असम्भव ही है। इसलिए नहीं कि ये संख्या में अधिक हैं, अपितु इसलिए कि इनमें से बहुत से विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख रूप में छपे थे और कइयों पर लेखक के रूप में उनका नाम भी नहीं था। उनकी लेखनी निरन्तर व्यस्त रही। सबसे पहले वे आर० सी० बेरी के आर्य-मैगजीन में लिखते रहे। इसके पश्चात् उन्होंने "रिजेनेरेटर आफ आर्यावर्त" में लिखना आरम्भ किया। बाद में 'आर्य पत्रिका' में भी उनके लेख छपे। मैं प्रयत्न करूँगा उनके द्वारा लिखित अधिकाधिक रचनाओं को एकत्र करूँ किन्तु यह एक अनिश्चित वादा ही है जिस पर निर्भर रहना उचित नहीं।

जिन लेखों के बारे में हम विश्वासपूर्वक नहीं कह सकते कि ये उन्हीं के द्वारा लिखे गये हैं, उन्हें यदि छोड़ भी दें, तो भी ऐसे लेखों की संख्या बहुत अधिक है जो उनके नाम से छपे हैं और उनके ही हैं। इनमें सबसे अधिक विद्वत्तापूर्ण लेख "जीवात्मा के अस्तित्व के प्रमाण"^{१११} शीर्षक है। यह ४५ पृष्ठों का है और वैदिक-मैगजीन के द्वितीय तथा तृतीय अंक में छपा था। यह उनकी रचनाओं में सर्वाधिक क्लिष्ट है और ऐसा लगता है कि इसे लिखने में उन्होंने बहुत परिश्रम किया होगा। इस निबन्ध से उनके विस्तृत अध्ययन का भी पता चलता है। उनके इसी अध्ययन का फल था कि उन्होंने इस निबन्ध में सत्रह विज्ञानवेत्ताओं के मतों का उल्लेख किया है और संसार के सभी प्रमुख धर्म-चिन्तकों के विचार भी दिये हैं। जिन वैज्ञानिकों और दार्शनिकों के विचार यहाँ विवेचित हुए हैं उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—हक्सले, निकलसन, रास्को, हैकल, ब्राउसेस, हूपर, उन्डट, हण्टर, रश, वोन हेल्मेट, व्हिट, स्थाल, वेन, स्पेन्सर, डा० बुचनर, कलेन, ब्राउन और डार्विन। लेखक ने सर्वप्रथम विश्व-

ब्रह्माण्ड की स्वाभाविक उत्पत्ति के सिद्धान्त को अपने विचार का विषय बनाया। अन्य वैज्ञानिकों की युक्तियों को प्रस्तुत कर पं० गुरुदत्त ने इस सिद्धान्त का खण्डन किया। इस प्रकार आधुनिक युग के बौद्धिक क्षेत्र के दिग्गजों के प्रमाणों से उन्होंने सिद्ध कर दिया कि इन वैज्ञानिकों ने भी जड़ तत्त्व से भिन्न एक चेतनायुक्त तत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार किया है। यह दूसरी बात है कि इन विभिन्न महानुभावों ने उस चेतन तत्त्व को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा है। इसके पश्चात् अपने मत की पुष्टि में उन्होंने प्राणि-विज्ञान का सहारा लिया जो कहता है कि प्राण या जीवन-शक्ति कारण रूप है न कि अन्य वस्तुओं के संघात का परिणाम। जैसा कि प्रोफेसर निकलसन कहते हैं—“यह बहुत ही सम्भाव्य मालूम होता है कि प्रत्येक प्राणभूत क्रिया में कुछ चीज ऐसी होती है जो कि केवल भौतिक और रासायनिक ही नहीं होती, प्रत्युत जो एक अज्ञात शक्ति द्वारा व्यवस्थित होती है। यह शक्ति दूसरी सभी शक्तियों की अपेक्षा उच्चतर, श्रेष्ठतर, और उनसे सर्वथा विभिन्न होती है। इस प्राणभूत ‘शक्ति’ की विद्यमानता पोषण के अतीव सरल दृश्य चमत्कारों में भी देखी जा सकती है, और इस समय तक सन्तानोत्पत्ति के दृश्य चमत्कारों को किसी ज्ञात भौतिक अथवा रासायनिक शक्ति की क्रिया द्वारा स्पष्ट करने का यत्न नहीं हुआ।”

इस चर्चा का समापन करते हुए पं० गुरुदत्त लिखते हैं—“इससे यह स्पष्ट है कि चाहे इसे जीवन, प्राणभूत सूत्र, व्यवस्थापक सूत्र, गूह्यकारण, इन्द्रिय-शक्ति *Vis medicatrix natura* और चेतन शक्ति आदि किसी भी नाम से पुकारो, आधुनिक वैज्ञानिक जगत् एक ऐसी सत्ता को देखने लगा है, जिसका सम्बन्ध गतिशास्त्र सम्बन्धी शरीरविद्या है (*Dynamic Physiology*) से है। इसे सत्ता को वह जीवन नाम देता है। अब यह केवल एक श्वास, केवल एक आभास, या इन्द्रियविन्यास की केवल एक उपज ही नहीं रहा। अब तो यह एक सूक्ष्म, शुद्ध, गति सम्बन्धी पदार्थ है, एक ऐसी सत्ता है जो इन्द्रियों की रचना करती है, जो वृद्धि, जीवन-शक्ति और गति को पैदा करती, जो घावों को भरती, क्षतियों को पूरा करती, खाती-पीती, और अनुभव करती है, जो चैतन्य युक्त है, जो कर्मों को पैदा करती है, और जो रोगों को रोकती, दबाती, और चंगा करती है। यह है वह

अनिवार्य परिणाम जिस पर कि पाश्चात्य देशों में निष्कपट जिज्ञासु और दार्शनिक लोग शरीर-शास्त्र सम्बन्धी खोजों द्वारा पहुँचे हैं। इस प्रकार वे एक ऐसी सत्ता को मानने पर बाध्य हुए हैं (यदि तुम्हें अच्छा लगता है तो इसे भौतिक कह दो, पर है यह एक सत्ता) जिसे कि पूर्व के प्राचीन दार्शनिकों ने आत्मा नाम दिया था।^{११०८}

इसे खेद का ही प्रसंग कहा जायगा कि पं० गुरुदत्त को शिक्षित भारतीयों के लिए निम्न आलोचनात्मक वाक्य लिखने के लिए इसलिए बाध्य होना पड़ा क्योंकि ये लोग प्राचीन भारत के गौरव को नकारने का एक गहरा प्रयास रखते हैं। वे लिखते हैं—“इस विषय में हमने जान-बूझकर प्राचीन पूर्वीय विचारकों के प्रमाण नहीं दिये। इसका स्पष्ट कारण यह है कि वर्तमानकालीन भारत अपनी मानसिक चेष्टा, धर्म, श्रद्धा और विश्वास मुख्यतः सभ्य पाश्चात्य इंग्लैण्ड से ही प्राप्त करता है। यदि हम शुरू में ही अक्षरशः ठीक इन्हीं बातों को साबित करने के लिए प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के प्रमाण उपस्थित करते, तो इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि इनको बिना किसी संकोच के मूढ़ विश्वासी, अव्यवस्थितचित्त, अवैज्ञानिक, और गले-सड़े विचार वाले लोगों की बातें कह दिया जाता, यद्यपि इस विषय पर पाश्चात्य विद्वानों का अच्छे से अच्छा प्रमाण उपस्थित किया गया है फिर भी प्रमाण की वह सुव्यवस्थित और सर्वांगपूर्ण परिगणना नहीं मिलती जो कि एक निश्चित और अवधारित सम्मति का विशेष गुण है।”^{११०९}

इसके पश्चात् वे आत्मा के स्वरूप एवं गुणों का विवेचन वैशेषिक दर्शन और उसके प्रशस्तपाद भाष्य के आधार पर करते हैं। यहाँ उन्होंने वैशेषिकदर्शन पर गौतम के लिखे प्रशस्तपाद भाष्य^{१११०} का एक लम्बा उद्धरण अंग्रेजी अनुवाद सहित दिया है, जिससे उन्होंने आत्मा में पाये जाने वाले नाना गुणों को सिद्ध किया है। “यह गुण उस द्रव्य को जतलाते हैं जिसमें कि यह रहते हैं। यह किसी-किसी या प्रत्येक वस्तु में नहीं पाये जाते और बाहर की इन्द्रियाँ इन्हें जान नहीं सकती इसलिए ये एक तीसरी चीज अर्थात् आत्मा के गुण हैं। आत्मा के गुण ये हैं—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्माधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग।”^{११११}

पं० गुरुदत्त का दूसरा निबन्ध वैदिक-मैगजीन के तीसरे अंक में प्रकाशित हुआ। यह प्रशस्तपाद भाष्य के उपर्यक्त उद्धरण की विस्तृत

व्याख्या है जिसे उन्होंने विस्तार से लिखा है। यहाँ उन्होंने भाष्य लेखक के मत का समर्थन करते हुए अनेक युक्तियाँ दी हैं तथा उनके विरोधियों के तर्कों का खण्डन किया है। चार्ल्स ब्रैडला ने अपने लेख 'क्या मनुष्य में आत्मा भी होती है' में जो दृष्टिकोण अपनाया है उसकी चर्चा करते हुए उन्होंने सिद्ध किया कि ब्रैडला ने "अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती" के सर्वस्वीकृत सिद्धान्त का खण्डन कर दिया है।

उनका एक अन्य निबन्ध भी हमारा ध्यान आकर्षित करता है। इसका शीर्षक है धन की डाह।¹¹² इस लेख में उन्होंने बताया है कि धन के पीछे दौड़ना क्या एक स्वस्थ प्रवृत्ति है? इस निबन्ध का आधार मनुस्मृति के ११वें अध्याय¹¹³ का १३वाँ श्लोक है। यहाँ लेखक ने कॉरनेल विश्वविद्यालय के अध्यक्ष डा० व्हाइट के प्रमाण से लिखा है कि आज हमारा समाज चार घातक रोगों से पीड़ित है। ये हैं उदासीनता, संशय, नास्तिकता और जड़वाद। पं० गुरुदत्त के अनुसार इनका कारण है शक्तिशाली जड़ प्रकृति तथा धन की पूजा। अपने इन निष्कर्षों को लेखक ने सांसारिक जीवन के दैनन्दिन अनुभवों में आने वाली समाज की वर्तमान स्थिति के उदाहरण से स्पष्ट किया है। उपर्युक्त चार रोगों में गुरुदत्त धन की डाह के रोग को और जोड़ देते हैं। इसे उन्होंने एक ऐसा रोग बताया है जो बहुत शीघ्रता से उड़कर लगता है, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में चला जाता है, असाध्य या दुःसाध्य है और अतीव उग्र है। इसके लक्षण बताते हुए वे कहते हैं "तर्पणातीत पिपासा या यशस्तृष्णा, सदा भूखा आमाशय, एक कफमय (उदासीनता से भरा हुआ) और कर्कश (चिड़चिड़ा) स्वभाव, परले दर्जे की इन्द्रिय-सूक्ष्मता और शीघ्रकोपित्व, पाशविक और मानुषी विकारों का प्रबल अन्तर्दाह, अशान्ति, निद्रा का अभाव और चिन्ता, गर्व, शक्ति और ज्वर की-सी अवस्था के आक्रमण, नैतिक और आध्यात्मिक कार्यशक्तियों का पक्षाघात, इन्द्रियातीत या अलौकिक, अनुभवों के प्रति जड़ता, अधिक पहनने, आलस्य, विलासिता और सुख के लिए सीमातीत लालसा, बाह्य स्वाधीनता का बनावटी रूप, व्यक्तिगत निर्बलता और क्षीणता।"¹¹⁴

इसके पश्चात् दरिद्रता के भयानक परिणाम भी उतने ही विषादपूर्ण ढंग से चित्रित किये गये हैं और लेख की समाप्ति मनुस्मृति

के एकं श्लोक तथा उपनिषद् के एक वाक्य को उद्धृत करके हो जाता है। मनु का श्लोक निम्न है—

वित्तं बन्धुवर्यः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।

एतानि मान्यस्थानानि गरीयोयद्युत्तरम् ॥

अर्थात् सम्मान के कारण पाँच हैं धन, बन्धुता, आयु, कर्म और ज्ञान। इनमें उत्तरोत्तर को श्रेष्ठ माना गया है।

आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥

आत्मा से शक्ति की प्राप्ति होती है और विद्या (वास्तविक ज्ञान) से अमरता प्राप्त होती है।

उनका 'आन्तरिक जीवन की वास्तविकताएँ'^{११५} शीर्षक व्याख्यान प्रसिद्ध अमेरिकन सन्त ए० जे० डेविस के इसी नाम के ग्रन्थ का सार संक्षेप है जो ७ अगस्त १८९० को छपा था। वैदिक टैक्स्ट संख्या एक और दो ऋग्वेद-मण्डल १ सूक्त २ के मन्त्र संख्या एक^{११६} और सात^{११७} की वैज्ञानिक व्याख्या है। वैदिक टैक्स्ट संख्या ३ ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ३०वें सूक्त^{११८} के प्रथम तीन मन्त्रों^{११९} की व्याख्या है जो गृहस्थ के कर्तव्यों का विधान करते हैं।

यहाँ हमने उनके स्फुट लेखन की चर्चा की है। इसमें वे लेख समाविष्ट नहीं हो सके हैं जो आर्य, रिजेनेरेटर आफ आर्यावर्त तथा आर्य-पत्रिका के अंकों में समय-समय पर छपते रहे।

अध्याय १३

पं० गुरुदत्त और योग

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

यमेवैष वृणुतेतेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुतेतनूंस्वाम् ॥

यह परमात्म तत्त्व न तो प्रवचनों से प्राप्त होता है न केवल मेधा के उपार्जन से ही और न बहुत कुछ सुनने से । जो हृदय के अन्तस्तल से उसे ढूँढ़ता है वही उसे प्राप्त करता है और वह परमात्मा अपनी महिमा का प्रकाशन अपने उस अनुरागी भक्त के समक्ष करता है ।

इस अध्याय का विषय इतना पवित्र है और यह प्रकरण इतना उत्कृष्ट है कि मुझ जैसे सांसारिक, अपवित्र और अधम व्यक्ति की कलम उसके साथ पूरा न्याय नहीं कर सकती । परन्तु पं० गुरुदत्त का कोई भी जीवनचरित तब तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक कि उसमें उनके शास्त्रों के अध्ययन तथा योग साधना के लिए किये उन संघर्षों की पूरी कहानी न दे दी जाए, जो वे जीवनपर्यन्त करते रहे । उनके जीवन की सर्वोच्च आकांक्षा योगी बनने की थी और उनकी डायरी से संकलित निम्न उद्धरण यह बतायेंगे कि उनका मस्तिष्क इस लक्ष्य को प्राप्त करने में कितना तल्लीन था ।

सब प्रकार की भ्रान्तियों और गलतफहमियों से अपने-आपको वचने के लिए मैं सर्वथा निष्कपट भाव से कहना चाहता हूँ कि पं० गुरुदत्त के जीवन के इस पहलू पर मैं स्वयं की एक पंक्ति भी नहीं लिखूंगा ।

इस सर्वाधिक पवित्र विषय (योग) के बारे में मेरी जानकारी लगभग शून्य हो है । इसलिए केवल स्वकर्त्तव्य की पूर्ति के लिए ही मैं अपनी ओर से कोई नोट या टिप्पणी न लिखकर उनके डायरी के उद्धरणों को ही प्रस्तुत कर रहा हूँ । मेरा तो विश्वास है कि योग में अदीक्षित व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत की गई टिप्पणियों से रहित, वास्तविक तथ्य पूर्ण बातें अधिक सुन्दर तथा आकर्षक हैं । हम विगत पृष्ठों में

बालक गुरुदत्त को प्राणायाम का अभ्यास करते और रहस्यात्मक धार्मिक पुस्तकों को पढ़ते देखते हैं। तत्पश्चात् हम उन्हें योग के अधिकारी साधकों से योग विषयक प्रश्न पूछते हुए भी देखते हैं। अब हम उन्हें योग के अभ्यास के लिए लालायित देखते हैं। इस सर्वाधिक रहस्यपूर्ण विज्ञान की जानकारी प्राप्त करने के लिए वे प्रत्येक उस व्यक्ति के पास जाते हैं जो उन्हें इस सम्बन्ध में कुछ भी बताने की स्थिति में हैं। हम १८८४ से आरम्भ करें—

१४ जनवरी—मैं अपने धार्मिक कर्तव्य पालन के लिए प्रतिदिन आधा घण्टा लगाने का व्रत लेता हूँ।

१५ अगस्त—आज से वह कठोरतम अभ्यास आरम्भ होगा जिसे करने की मैंने प्रतिज्ञा की है।

१८ फरवरी १८८५—प्रबल अग्नि उद्दीप्त होकर मेरे मस्तिष्क को परिपक्व करे।

१ मार्च—मुझे योग अवश्य करना है।

२३ अप्रैल—अभी तक मेरे मन की भ्रान्ति दूर नहीं हुई है और ग्रीष्म ऋतु आ गई है। मुझे आरम्भ कर ही देना चाहिए... योग की पवित्र क्रियाओं को तुरन्त आरम्भ करना आवश्यक है। कितनी अशोभनीय स्थिति है कि मैंने पूरे दो वर्ष तक योगाभ्यास नहीं किया। शर्म, शर्म, शर्म।

२४ अप्रैल—एक क्रान्ति ! क्यों नहीं सारी भावनाओं और आसक्तियों से छुटकारा पाकर मिल और दयानन्द से नाता जोड़ा जाए। अथवा क्या सांसारिक अनुरागभाव ही अपने को प्रभावी सिद्ध करेगा।

४ अक्टूबर—जीवन की एक नई अवस्था। क्या मेरे विश्वासों ने मुझे इतना संज्ञाहीन बना दिया है कि मैं अपने कर्तव्यों से पूर्णतया विमुख हो गया हूँ। हाँ, मुझे अपने कर्तव्यों का तो पालन करना ही चाहिए, अवश्य करना चाहिए।

२१ जून १८८६—मुझे योगाभ्यास आरम्भ कर देना चाहिए, अन्यथा व्यर्थ की बातों का कोई लाभ नहीं।

१६ जनवरी १८८७—मुझे योग सीखना चाहिए और जीवन में उपदेशक का कार्य करना चाहिए।

२५ जनवरी—मैंने योग का सामान्य अभ्यास किया है।

६ फरवरी—आज मैं ल...के साथ पण्डित...से मिलने गया। उनसे भेंट कर बड़ी प्रसन्नता हुई। यह योग विषयक बातों का भी अच्छा जानकार है।

८ फरवरी—मैं श्री...के साथ गया और उनसे योग के ११ सूत्र पढ़े। मेरी वृत्तियाँ बाह्य संसार की ओर आकृष्ट होती हैं।

९ फरवरी—मैं श्री...से मिलने गया। उन्होंने मुझे बताया कि जब कोई आदमी धर्म का आचरण आरम्भ कर देता है तो उसकी परीक्षा की घड़ियाँ समाप्त हो जाती हैं। किन्तु इसके पहले तो... उसने मुझे बताया कि वह चाहता था कि कोई उस वास्तविक योग विज्ञान की शिक्षा दे... उसने देखा कि अनेक लोग उसे योग सिखाने के लिए तैयार हैं। उसने उनके प्रस्ताव को तो नामंजूर कर दिया। किन्तु अचानक साफा पहने एक व्यक्ति उसके समक्ष आया। उसने आकर कहा, क्या तुम वास्तविक योग सीखना चाहते हो? तुम्हें इसे अभी आरम्भ कर देना चाहिए। इसके दो प्रकार हैं, या तो योगियों की विधि से इसे करो अथवा अपने व्यवसाय में लगे रहकर अपनी जीवन प्रणाली को जारी रखते हुए योग की साधना करो।... मुझे कहा गया कि मैं ग्रीष्मावकाश में उसके पास जाऊँ और योग का अभ्यास करूँ। कल मुझे जल्दी उठना है तथा योगाभ्यास और गायत्री का जप करना है। अतः मुझे जल्दी उठना चाहिए और यथोचित योगाभ्यास करना चाहिए।

१० फरवरी—मैं सवेरे जल्दी उठा और गायत्री के १००० जप किये। सायंकाल उसके पास गया और योग-दर्शन का प्रथम अध्याय पढ़कर पूरा किया।

२० फरवरी—आजकल योग का अभ्यास नहीं हो रहा है, इसका बहुत दुःख है।

इसी बीच उन्हें अपने पिता की गम्भीर बीमारी का समाचार मिला। वे मुलतान चले गये और वहाँ से लौटकर उन्होंने लिखा—
आज का उद्देश्य

पीड़ा पूर्ण रहा।

कल भी विदीर्ण हो रहा है। आह

पुनः आरम्भ किया जाए—

१६ मई—क्या मेरे जीवन में नियमितता आयेगी? हे भगवान्

मैं जो चाहता हूँ वैसा मुझे बनाओ ।

२५ मई—...के...का रजिस्टर्ड पत्र मिला । इसमें योग विषयक अच्छी जानकारी है । आजकल योग का चलन नहीं है, ऐसा मानना असम्भव है ।

३० जून—अमरता, तुम मेरा स्वप्न रही हो । तुम मेरा ध्येय हो । परमात्मा, मुझे प्रेरणा दो ।

१ जुलाई—उपर्युक्त—दो बार ।

४ जुलाई—...से योग विषयक चर्चा की ।

८ जुलाई—दो आसन सीखे ।

१४ नवम्बर—मेरे व्रत का पहला दिन है ।

२१ नवम्बर—मैं आज इतना देर करके उठा हूँ कि कुछ भी खाने की इच्छा नहीं है । आज बिना कम्बल सोऊँगा और सूती वस्त्र पहनूँगा ।

२५ नवम्बर—चित्तवृत्ति निरोध रूपी योग को सीखने के लिए प्रतिदिन एक घण्टा लगाने की प्रतिज्ञा करता हूँ ।

अगले वर्ष के आरम्भ में पं० गुरुदत्त को गम्भीर अस्वस्थता भोगनी पड़ी । वस्तुतः यह भयंकर रोग भीषण रूप में बढ़ता जा रहा है ।

७ मई १८८८—आजकल अभ्यास नहीं हो रहा है । ...आज से आरम्भ करूँ ।

५ सितम्बर—मन की अशान्त स्थिति पर आनन्ददायी सन्ध्या ने विजय प्राप्त की । मेरा मन इसमें खूब लगा ।

१० सितम्बर—आज से अनुशासनबद्ध जीवन आरम्भ हुआ ।

इसके बाद हमें पण्डित गुरुदत्त की लिखी नियमित डायरी नहीं मिली । किन्तु कुछ यत्र तत्र लिखे विवरण मिले हैं जो उपर्युक्त अवधि के ही हैं । उनकी डायरी में ही इस बात के प्रभूत प्रमाण हैं कि वे प्रायः कई दिनों या कई महीनों तक डायरी नहीं लिखते थे ।

परिशिष्ट—अ

सर सैयद अहमद खाँ द्वारा स्थापित ऍंग्लो मोहम्मडन कालेज अलीगढ़ के मुख-पत्र अलीगढ़ इन्स्टीट्यूट गजट ने पं० गुरुदत्त की मृत्यु पर निम्न शोक-संवेदना प्रकट की । मैंने इस लेख का शाब्दिक किन्तु समझ में आने वाला अनुवाद किया है और मुहावरों का यथावत् रूपान्तर करने की चेष्टा नहीं की है ।

—अलीगढ़ इन्स्टीट्यूट गजट के २५ मार्च १८९० के लेख का अनुवाद ।

शोक संवाद—पं० गुरुदत्त साहिब एम० ए०

किसी होनहार युवक की मृत्यु पर लोगों को जैसा दुख होता है उसका अनुमान लगाना भी कठिन है, क्योंकि ऐसे युवक का निधन निश्चय ही कष्टदायक होता है जिससे मानव जाति के सामान्यतः और किसी राष्ट्र या जाति के विशेषतः हितसाधन होने की आशा हो । हमारा दुख उस समय और बढ़ जाता है जब हम देखते हैं कि उस दिवंगत व्यक्ति ने अपने गुणों के कारण अपने देश का गौरव बढ़ाया है ।

पं० गुरुदत्त विद्यार्थी भी इसी कोटि के पुरुष थे । यूरोपीय विज्ञान तथा साहित्य में उन्हें योग्यता प्राप्त थी, वे संस्कृत के प्रखर विद्वान् थे तथा अंग्रेजी भाषा के महान् वक्ता । उनके अंग्रेजी व्याख्यानों को सुनकर लोग आश्चर्यचकित रह जाते थे । यदि वे कुछ दिन और जीवित रहते तो देश के प्रसिद्ध वक्ता के रूप में ख्याति अर्जित करते । वे आर्यसमाज-लाहौर के प्रतिष्ठित सदस्य थे । सर्वोपरि बात तो यह थी कि उन्होंने अन्य कार्यों से अपने आपको पूर्णतया पृथक् कर स्वयं को सर्वात्मना आर्यसमाज के लिए ही समर्पित कर दिया था । उन्हें उच्च एवं सम्मानजनक पदों पर नियुक्त किये जाने के अनेक सन्देश मिले, किन्तु उन्होंने इन प्रस्तावों को स्वीकार नहीं किया । आर्यसमाज को प्रगतिपथ पर ले जाना ही उनके जीवन का लक्ष्य था । उनके अनेक गुणों में यही एक गुण प्रधान और पर्याप्त कहा जा सकता है ।

कितने शोक की बात है कि ऐसा व्यक्ति केवल २६ वर्ष की आयु में रोग का शिकार होकर १६ मार्च १८९० को दिवंगत हो गया। हजारों लोगों ने उनकी मृत्यु का शोक मनाया और दिवंगत को श्रद्धांजलि अर्पित की। किन्तु गुरुदत्त के वियोग से जो राष्ट्र की हानि हुई, खास तौर से आर्यसमाज की हानि, उसकी तो क्षतिपूर्ति नहीं हो सकती। हमारे विचार से किसी भी देश या धर्म के किसी महापुरुष की मृत्यु को मानव जाति पर आई विपत्ति ही माना जाना चाहिए, और इसके लिए सभी को शोक व्यक्त करना चाहिए।

परिशिष्ट—ब

डी० ए० ब्री० कालेज की विद्यालय कक्षाओं में अष्टाध्यायी का अध्ययन आरम्भ कराने के सम्बन्ध में नियुक्त विशेष उपसमिति की पं० गुरुदत्त विद्यार्थी द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट—

उस उपसमिति की एक बैठक १२ जुलाई १८८९ को हुई। इसमें निम्न महानुभाव उपस्थित थे—

लाला लालचन्द, लाला साईदास, लाला हंसराज, पं० गुरुदत्त विद्यार्थी।

पं० गुरुदत्त विद्यार्थी द्वारा बताया गया कि संस्कृत सीखने वाली कक्षाओं के छात्रों का संस्कृत उच्चारण बहुत दोषपूर्ण, भद्दा तथा बेढंगा है। इसलिए प्राइमरी विभाग से ही छात्रों को शुद्ध उच्चारण सिखाना चाहिए। उपसमिति के सभी सभासद इस बात से सहमत थे कि ऐसा कदम अवश्य उठाया जाना चाहिए। इसके लिए प्रबन्धक समिति से निवेदन किया जाय कि भविष्य में चौथी और पाँचवीं श्रेणी के अध्यापक पाणिनिकृत वर्णोच्चारण शिक्षा के अनुसार छात्रों को उच्चारण की शिक्षा दें। मेरे विचार से स्थान, करण तथा प्रयत्न विषयक पाणिनीय सूत्र, जो वर्णोच्चारण शिक्षा में पढ़े गये हैं, छात्रों को कण्ठस्थ होने चाहिए तथा इनकी व्याख्या उन्हें अध्यापकों से सीख लेनी चाहिए। इस पुस्तक का दार्शनिक अंश इन श्रेणियों को न

पढ़ाया जाय । किन्तु यदि छात्र स्थल, करण और प्रयत्न विषयक अध्यायों की जानकारी कर लें तो आगे चलकर उनका अष्टाध्यायी के अध्ययन में सुगमताया प्रवेश हो सकेगा ।

जहाँ तक विद्यालय की श्रेणियों में अष्टाध्यायी को आरम्भ करने का प्रश्न है, लाला लालचन्द का सुझाव था कि मिडिल स्कूल की तीन वर्ष की पढ़ाई में वे जो कुछ आज पढ़ रहे हैं उससे अधिक उन्हें पढ़ाना उचित नहीं है । वजाय इसके कि ये सम्पूर्ण अष्टाध्यायी को कण्ठस्थ करें, उनके लिए हिन्दी माध्यम की संस्कृत व्याकरण ही पर्याप्त है, क्योंकि अर्थ ज्ञान किये बिना अष्टाध्यायी रटने का भी क्या लाभ है ? इस सुझाव का एक प्रमुख कारण यह भी है कि मिडिल स्तर के छात्रों के स्वास्थ्य पर बहुत भारी बोझ नहीं लादना चाहिए । अष्टाध्यायी के रटने मात्र से उन्हें संस्कृत व्याकरण की स्वल्प जानकारी भी नहीं होगी इसलिए इस कमी को पूरा करने के लिए इतना ही काफी है कि वे हिन्दी माध्यम से संस्कृत का प्रारम्भिक व्याकरण पढ़ें । उनके अध्ययन का अन्य पाठ्यक्रम तो उन्हें पूरा करना ही होगा क्योंकि ऐसा न करके वे परीक्षा में नुकसान उठावेंगे । मेरा प्रयोजन तो बच्चों के स्वास्थ्य पर बहुत अधिक बोझ न डालने का है, इसलिए इस बात पर जोर नहीं देना चाहिए कि लड़कों को प्रत्येक दिन एक घण्टा अष्टाध्यायी पढ़ाई ही जाय । मेरे द्वारा सुझाये पाठ्यक्रम का एक लाभ यह भी होगा कि इससे संस्कृत व्याकरण का परिपूर्ण परिचय तो उन्हें हो ही जायगा । लाला लालचन्द का मत था कि जब तक छात्र को अष्टाध्यायी पूरी-की-पूरी याद न हो, तब तक उसका अर्थ सहित अध्ययन भी विशेष उपयोगी नहीं है । उनकी योजना के अनुसार यदि छात्र अष्टाध्यायी को रटने में तीन साल लगा लेंगे तो उसका अर्थ समझने की प्रक्रिया वे अपनी एन्ट्रेंस की कक्षा से आरम्भ कर सकेंगे । इस प्रकार उनके स्वास्थ्य पर भी बुरा असर नहीं पड़ेगा ।

किन्तु उपर्युक्त सुझाव के बारे में मेरी राय यही है कि इसमें जो अच्छा उद्देश्य निर्धारित किया गया है उसकी ही अवमानना होती है । मेरे विचार से अष्टाध्यायी को लगाना ही वांछनीय है क्योंकि संस्कृत की वर्तमान व्याकरण पुस्तकें त्रुटिपूर्ण हैं तथा वेदों को समझने में सहायक नहीं हैं । इसके अतिरिक्त, यह भी कहना होगा कि अकेले

पाणिनीय व्याकरण को छोड़कर अन्य सभी व्याकरण ग्रन्थ एक ऐसी शैली में लिखे गये हैं जिससे छात्र का सम्पूर्ण जीवन तो नष्ट होता ही है, बदले में उसे संस्कृत भाषा की प्रकृति को समझने में कोई सहायता नहीं मिलती। दूसरी ओर लाला लालचन्द द्वारा निर्दिष्ट पद्धति में हिन्दी माध्यम से संस्कृत व्याकरण पढ़ाने का प्रावधान है जो मेरे विचार से अनावश्यक तो है ही, अवैदिक तथा अपाणिनीय भी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्य व्याकरणों के अध्ययन से पाणिनि के पठन के प्रति दुर्भावना और पूर्वाग्रह की वृत्ति बनती है और इसके लिए विद्यार्थी को स्वल्प काल के लिए ही व्याकरण विषयक अपनी पूर्वनिर्धारित धारणाओं से संघर्ष करना पड़ता है और पाणिनि का अध्ययन आरम्भ करने से पहले उसे इन अन्य व्याकरणों के प्रभाव को धो-पोंछकर साफ करना पड़ता है। अतः मेरे विचारानुसार यह योजना पाणिनि के अध्ययन में सहायक की अपेक्षा बाधक ही है। इसके उपरान्त, जैसा कि लाला साईदास कहते हैं, ४००० सूत्रों को बिना उनका अर्थ जाने रट लेना छात्र के मानसिक स्वास्थ्य के लिए सबसे अधिक रुचिकर है। इस योजना में छात्रों की शासैरिक श्रम से मुक्ति नहीं होती, बल्कि उसका बोझ बढ़ता ही है। यदि इसे (लाला साईदास के विचार को) मंजूर न किया जाय तो छात्र अपने पाठ्यक्रम के अतिरिक्त हिन्दी माध्यम से संस्कृत व्याकरण ही पढ़ेंगे, किन्तु इस रिपोर्ट के साथ संलग्न पाठ्य योजना के अनुसार छात्रों को मात्र अष्टाध्यायी ही पढ़नी होगी। लाला लालचन्द द्वारा बताई योजना के अनुसार विद्यार्थियों को अपने पाठ्यक्रम, संस्कृत व्याकरण तथा अष्टाध्यायी को तो तैयार करना होगा ही, इसके अतिरिक्त अपनी स्मरण शक्ति के बोझ को बढ़ाने के परिणामस्वरूप उनकी मानसिक शक्ति भी निर्बल हो जाएगी क्योंकि वे उस सामग्री को रट रहे हैं जिसकी उपयोगिता से तो वे सर्वथा अपरिचित ही हैं।

लाला हंसराज की राय है कि लघु कौमुदी के स्तर की अष्टाध्यायी के सूत्रों की एक ऐसी पुस्तक तैयार की जाय जिसमें सन्धि, नाम आदि विषयों से सम्बन्धित सूत्रों का संग्रह हो। व्याकरण की पाठ्य-पुस्तक इन्हीं सूत्रों के आधार पर तैयार की जाय किन्तु इन सूत्रों के अर्थ और व्याख्याएँ स्वामी दयानन्द सरस्वती रचित वेदांग-प्रकाश से संकलित कर ली जाएँ। इस विधि से तैयार की गई संस्कृत

व्याकरण की पाठ्य-पुस्तकें मिडिल और ऊपर की कक्षाओं के लिए निर्धारित कर दी जायें। अष्टाध्यायी को उसके स्तर पर तो केवल कालेज कक्षाओं को ही पढ़ाया जाय। मिडिल और उच्च श्रेणियों में मनुस्मृति, रामायण तथा महाभारत से संकलित अंश भी पाठ्यक्रम में रखे जाएँ।

मेरे विचार से यह कदम पहले से भी अधिक नुकसानदेह है। कारण कि इससे व्याकरण के अध्ययन की वैदिक पद्धति को क्षति पहुँचती है। मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि स्वामी दयानन्द ने जो लघु और सिद्धान्त कौमुदी को अवांछनीय बताया था, वह इसलिए नहीं कि उनमें दिए सूत्रों के अर्थ गलत हैं, किन्तु उनकी आपत्ति इन ग्रन्थों में निर्धारित सूत्रों के क्रम को लेकर थी, जिस क्रम से वे पढ़ाये जाते हैं। इन दोनों कौमुदियों में कुछ ऐसे सूत्र भी हैं जिनकी व्याख्या त्रुटिपूर्ण है, किन्तु उनकी संख्या कम ही है। लघु कौमुदी में तो ऐसे सूत्र और भी कम हैं और इन पर हरताल फेरने में एक घण्टे से अधिक समय भी नहीं लगता। इतनी ही अवधि में इनकी नई सही व्याख्या भी की जा सकती है। यदि पाणिनीय अष्टाध्यायी और लघु-कौमुदी में इतना ही अन्तर होता तो थोड़े-बहुत परिवर्तन के पश्चात् इसे ही पाठ्यक्रम में स्थान देने में हमें कोई आपत्ति नहीं होती। और यदि स्वामी दयानन्द कृत वेदांगप्रकाश की व्याख्याओं का समावेश केवल इसी कारण किया जाता है कि ऐसा करने से व्याकरण का माध्यम हिन्दी हो जायेगा, और संस्कृत लघु-कौमुदी को समझने का श्रम बच जायेगा, तो मैं यह कहना चाहूँगा कि लघु कौमुदी का एक बहुत सुन्दर अनुवाद भी मौजूद है। एक बात और भी है, लघु कौमुदी के सूत्रों के साथ स्वामी दयानन्दकृत वेदांग-प्रकाश की व्याख्या को जोड़ने से चाहे हम आर्य लोग खुश हो जावें, इससे लघु कौमुदी की विषाक्तता कम नहीं होगी। लाला हंसराज के प्रस्ताव में अच्छी बात तो इतनी ही है कि इसमें स्वामी दयानन्द के नाम को पाठ्य पुस्तकों में जोड़ने की गुंजाइश रहती है, अन्यथा वह तो ऐसा है जैसा टुकड़ों में ही लघु कौमुदी के हिन्दी अनुवाद को मिडिल और उच्च कक्षाओं में प्रविष्ट कराना।

यह योजना मूल प्रस्ताव को अस्तव्यस्त करती है और अध्ययन के क्रम को ही बदल देती है। क्योंकि जैसाकि स्वामी जी ने सत्यार्थ-

प्रकाश (पृ० ६६-६७-६८) में बताया है, अष्टाध्यायी की दो आवृत्तियाँ होनी चाहिए। प्रथम आवृत्ति अनिवार्यतः सूत्र क्रम से ही होनी चाहिए जिसमें सूत्र-पाठ, पदच्छेद, समास, उदाहरण तथा प्रयोग सिद्धि सिखलाई जाती है। दूसरी आवृत्ति पूर्णतः प्रयोग सिद्धि के उद्देश्य से ही होती है। इसके अन्तर्गत धातुपाठ, उणादि कोश, गण-पाठ, वार्तिक, कारक तथा परिभाषा का अध्ययन कराया जाता है। यह एक सिद्ध बात है कि लघु कौमुदी प्रयोग सिद्धि की शैली पर लिखी गई है। इसलिए लघु कौमुदी को मिडिल और ऊपरी कक्षाओं में तथा अष्टाध्यायी को कालेज की श्रेणियों में लगाकर हम व्याकरण के स्वाभाविक अध्ययन को ही उलट रहे हैं। ऐसा करना जड़ को ऊपर और टहनियों को नीचे करना है। यह ऐसा ही है जैसे रेखा-गणितीय निगमनों को पहले पढ़ाना और साध्यों की पुस्तक को बाद में। स्वामी दयानन्द स्वयं लिखते हैं—

“तदनन्तर व्याकरण अर्थात् अष्टाध्यायी के सूत्रों का पाठ, फिर पदच्छेद फिर समास और अर्थ... उदाहरण... उनका कार्य... सब बतलाया जाय। एक बार इसी प्रकार अष्टाध्यायी पढ़ाके धातुपाठ अर्थ सहित और दश लकारों के रूप तथा प्रक्रिया सहित... धातु के पश्चात् उणादि गण के पढ़ाने में सर्वसुवन्त का विषय अच्छी प्रकार पढ़ाकर पुनः दूसरी बार शंका समाधान वार्तिक, कारिका, परिभाषा को घटाना पूर्वक अष्टाध्यायी की द्वितीयानुवृत्ति पढ़ावे। अर्थात् जो बुद्धिमान् पुरुष निष्कपटी विद्यावृद्धि के चाहने वाले नित्य पढ़े-पढ़ावे तो डेढ़ वर्ष में अष्टाध्यायी (और डेढ़ वर्ष में महाभाष्य पढ़कर) तीन वर्ष में पूर्ण व्याकरण होकर वैदिक और लौकिक शब्दों का व्याकरण से पुनः अन्य शास्त्रों को शीघ्र सहज में पढ़-पढ़ा सकते हैं किन्तु जैसा बड़ा परिश्रम व्याकरण में होता है, वैसा श्रम अन्य शास्त्रों में करना नहीं पड़ता और जितना बोध इनके पढ़ने से तीन वर्ष में होता है उतना बोध कुग्रन्थ अर्थात् सारस्वत, चन्द्रिका, कौमुदी, मनोरमादि के पढ़ने से पचास वर्षों में भी नहीं हो सकता। क्योंकि जो महाशय महर्षि लोगों ने सहजता से महान् विषय अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया है वैसा इन क्षुद्राशय मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थों में क्योंकर हो सकता है? महर्षि लोगों का आशय जहाँ तक हो सके वहाँ तक सुगम और जिसके ग्रहण करने में समय थोड़ा लगे इस प्रकार का होता है।

क्षुद्राशय लोगों की मनसा ऐसी होती है कि जहाँ तक बने वहाँ तक कठिन रचना करनी जिसको बड़े परिश्रम से पढ़के अल्प लाभ उठा सके जैसे पहाड़ का खोदना कौड़ी का लाभ होना और आर्षग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है कि जैसा एक गोता लगाना बहुमूल्य मोतियों का पाना ।”^{१२}

कितने खेद की बात है कि स्वामी दयानन्द जैसे महापुरुष की स्मृति में स्थापित शिक्षा संस्था में शैक्षिक मामलों में उनकी ही सुनवाई न हो । इस शिक्षा नीति को खुद उन्होंने अपना बहुमूल्य समय और जीवन लगाकर निर्धारित किया था ।

इस प्रस्ताव की चर्चा को समाप्त करने के पहले एक बात और कह दूँ । यदि हम यह मान भी लें कि लघु कौमुदी मिडिल और उच्च कक्षाओं में पढ़ाई जाती तथा अष्टाध्यायी का आरम्भ कालेज की श्रेणियों में हैं, तो देखना यह है कि आगे क्या होगा ? कालेज की पढ़ाई कुल चार वर्षों की होती है, २ वर्ष एम० ए० और २ वर्ष बी० ए० । पढ़ाई के लिए । एम० ए० का साल तो उसी विषय के लिए होता है जिसमें छात्र को एम० ए० करना है । स्नातक स्तर की पढ़ाई के चार वर्षों में द्वितीय और चतुर्थ वर्ष को विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम और उसकी परीक्षा में लगाने पड़ते हैं । इसलिए यदि कालेज में अष्टाध्यायी पढ़ाई जाएगी तो वह एम० ए० के प्रथम वर्ष में और बी० ए० के प्रथम वर्ष में ही पढ़ाई जा सकती है । इससे विद्यार्थी के अध्ययन में अनिवार्यतः बाधा उपस्थित होगी । यदि ऐसा न भी हो तो भी यह तो स्पष्ट है कि जिस छात्र ने आरम्भ में लघु कौमुदी ही पढ़ी है उसके लिए अष्टाध्यायी का मुख्य अंश ग्रीक और लैटिन के तुल्य दुर्बोध होगा । जब वह कालेज की पढ़ाई समाप्त करेगा तो उसे स्वल्प अष्टाध्यायी का बोध भले ही हो, उणादि कोश या महाभाष्य का तो उसे कोई ज्ञान ही नहीं होगा । अब मैं पूछता हूँ कि डी० ए० बी० कालेज के विद्यार्थी के लिए संस्कृत शिक्षण का क्या यही आदर्श होगा ? मैं पूछता हूँ कि हमारे कालेज का एक स्नातक आपकी आर्य-शिक्षा के सिद्धान्त पर खरा कैसे उतर सकता है जो थोड़ी अष्टाध्यायी और वह भी आधी अधूरी पढ़ा है, जबकि उसे उणादि कोश, महाभाष्य, निघण्टु, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष और षडदशनों का कुछ भी ज्ञान नहीं है । क्या उसमें वेदों के उच्च ज्ञान को समझने की सामर्थ्य है ? क्या उसने आर्य शिक्षा के आदर्शों को दृढ़ता से अपनाया है ?

निश्चय ही यदि इस कालेज को उन सब आकांक्षाओं को पूरा करना है, जो इससे सहानुभूति रखने वाले लोगों ने अपने दिलों में संजोई हैं, तो हमें इस कालेज में विश्वविद्यालय की एम० ए० कक्षा से उच्चतर कुछ कक्षाएँ स्थापित करनी होंगी। यों तो हमने इस कालेज में धर्म शिक्षा का पाठ्यक्रम भी चलाया है, किन्तु मेरा तो इतना ही निवेदन है कि जो छात्र व्याकरण नहीं जानते, उनके लिए इस प्रकार की धार्मिक और नैतिक शिक्षा भी एक बोझ ही होगी।

लाला साईदास की राय है कि अष्टाध्यायी के शिक्षण का प्रयोग अवश्य किया जाना चाहिए। इसलिए अर्थ और उदाहरण सहित अष्टाध्यायी की पढ़ाई एक वर्ष के लिए मिडिल श्रेणी में और उसके बाद नवीं कक्षा में आरम्भ की जानी चाहिए। एक वर्ष के पश्चात् इस योजना की क्रियान्विति के बारे में रिपोर्ट पेश की जानी चाहिए और तब यदि इसे उचित समझा जाए तो इसकी व्यावहारिकता को देखते हुए इसे मिडिल और ऊपरी कक्षाओं में पूरे तौर पर लागू किया जा सकता है। किन्तु वे (लाला साईदास) यह भी चाहते हैं कि मिडिल के पहले साल में नित्य प्रति एक घण्टा अष्टाध्यायी पढ़ाने के साथ-साथ अन्य पाठ्यक्रम भी जारी रखना जाना चाहिए क्योंकि उनके विचार में पाठ्य पुस्तकों के माध्यम से की गई पढ़ाई से ही लड़के परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकते हैं। मैं उनके इस मत से सहमत तो हूँ किन्तु केवल प्रायोगिक रूप में अष्टाध्यायी को जारी करना मेरे विचार से ठीक नहीं है। उपर्युक्त कारणों से मैं तो इस कालेज में अष्टाध्यायी के अध्ययन को अनिवार्य बनाने का पक्षपाती हूँ। मेरी दृष्टि में यह किसी पुस्तक या पाठ्यक्रम को अधिमान देने का प्रश्न नहीं है। मेरे विचार में अष्टाध्यायी का अध्ययन तो हमें आरम्भ कराना ही चाहिए। मैं इस बात के लिए अवश्य सहमत हूँ कि जो लड़के विश्वविद्यालय की परीक्षाओं की तैयारी कर रहे हैं उनके हित को ध्यान में रखते हुए इसे स्कूल के स्तर पर क्रमिक रूप में पढ़ाया जा सकता है।

मेरी यह भी राय है कि आठवीं, मिडिल तथा १०वीं उच्च श्रेणी को छोड़कर वर्तमान पाठ्य पुस्तकें सर्वथा समाप्त कर दी जानी चाहिए। इस प्रकार मिडिल कक्षा वालों को पूरे दो वर्ष, और एण्ट्रेंस परीक्षा वालों को पूरा एक वर्ष अष्टाध्यायी पढ़ने के लिए मिल

जाएगा। ऐसा होने पर छात्रों के स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव नहीं पड़ेगा और शिक्षा के नीचे के स्तर (मिडिल और उच्च कक्षाओं में) पर ही छात्रों की संस्कृत की योग्यता बढ़ जाएगी। किन्तु मैं केवल स्वास्थ्य की दृष्टि से ही मिडिल और एण्ट्रेस के स्तर पर क्रमशः दो और एक वर्ष के लिए नियमित पाठ्यक्रम को हटाने का आग्रह नहीं करूँगा। इसका मुख्य कारण मेरी दृष्टि में पाठ्यपुस्तकों का दोषपूर्ण होना ही है। इनसे उन्नीसवीं शताब्दी की वह संस्कृत पढ़ाई जाती है जो केवल पाठ्यपुस्तक प्रणेता लेखक के दिमाग में ही है, अन्यत्र कहीं नहीं। उदाहरण के लिए, मैं पाठोपकारक भाग २ को पेश करता हूँ। शायद इससे बढ़कर संस्कृत की और कोई दोषपूर्ण पाठ्यपुस्तक नहीं है।

शुद्ध

अशुद्ध

पृ० १३. योहि द्यावा पृथिवी सृष्ट-
वान् एकं ब्रह्म द्वितीयो
नास्ति
मानृतं वक्तव्यं

यो हि द्यावापृथिवी सृष्टवान्
एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म (वा)
एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति
अनृतं मा वाचि या अनृतं
न वक्तव्यं

पृ० १४. आत्मनः पिता माता च
माननीयेति
मार्हिस्वात् सर्वा भूतानि
अतएव शास्त्रस्य लिखनं
ये लोकाः परमेश्वरस्य
सर्वाज्ञाः पालयन्ति तेषां
किफलं भवति

आत्मनः पिता माता च
माननीयाविति
मार्हिसीः या सर्वाणि भूतानि
अतएव शास्त्रस्य लेखनं
ये मनुष्याः तेभ्यः किं फलं
भवति

ऐसी पुस्तक का संशोधन भी व्यर्थ है। इसका कोई पृष्ठ ऐसा नहीं है जिस पर कम-से-कम दस गलतियाँ न छपी हों।

जहाँ तक कालेज की कक्षाओं में संस्कृत पाठन की योजना का सम्बन्ध है, लाला हंसराज, लालचन्द तथा साईदास का विचार है कि इन कक्षाओं में इस विषय को एकदम प्रविष्ट नहीं कराया जा सकता। अतः मेरा सुझाव है कि जब तक कालेज की उच्च श्रेणियों में संस्कृत के ऐसे पाठ्यक्रम को जारी नहीं किया जा सकता, तब तक इस योजना को स्थगित रखा जाए।

तथापि, मेरी राय है कि जब भी इस योजना को चालू किया जाना सम्भव हो, उस समय अनावश्यक देर से बचने के लिए इसकी वांछनीयता पर अभी विचार कर लेना ठीक होगा, जबकि इसको व्यावहारिक रूप देना तो उसी समय सम्भव होगा।

राय मूलराज एम० ए० पी० सी० आर० सी० एस० नै, जो इस विशिष्ट उपसमिति की किसी भी बैठक में शामिल नहीं हो सके थे, कृपापूर्वक अपनी सम्मति लिखित रूप में भेजी है। उनका यह पत्र प्रबन्धक समिति के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है।

—गुरुदत्त विद्यार्थी

परिशिष्ट—स

राय मूलराज एम० ए० पी० सी० आर० सी० एस० का पत्र
प्रिय महोदय,

दयानन्द कालेज की प्रबन्ध समिति के समक्ष संस्कृत शिक्षा का पाठ्यक्रम निश्चित करने के लिए जो उपसमिति बनाई गई थी, उसमें मेरा आना सम्भव नहीं हो सका था, अतः मैं इस विषय पर अपनी राय को लिखित रूप में प्रस्तुत कर रहा हूँ।

आजकल हमारे कालेज में जो पाठ-विधि प्रचलित है उसमें संस्कृत-वाक्यप्रबोध तथा वर्णोच्चारण-शिक्षा को स्थान मिला हुआ है। इन पुस्तकों के पढ़ाये जाने पर मुझे कोई आपत्ति नहीं है, हालाँकि इन्हें पाँचवीं श्रेणी में ही समाप्त किया जा सकता है।

मैं तो चाहूँगा कि अष्टाध्यायी भी स्कूल श्रेणियों में पढ़ाई जाए। किन्तु प्रश्न तो इतना ही है कि क्या मिडिल स्तर के विद्यार्थियों के स्वास्थ्य को नुकसान पहुँचाये बिना और उनके नियमित पाठ्यक्रम में व्यवधान पैदा किये बिना इसे उद्देश्यपूर्ण ढंग से पढ़ाया जा सकता है। मेरे विचार से इस विषय पर और अच्छी तरह से विचार किया जा सकता है, यदि इस पर पं० गुरुदत्त विद्यार्थी अपनी राय दें।

मुझे इस बात में सन्देह है कि यदि दयानन्द कालेज में विद्यार्थियों

को उनके संस्कृत पाठ्यक्रम के अलावा पिंगल सूत्र, उणादि कौश और भूमिका पढ़ाई जाती रही तो यहाँ पढ़ने के लिए बहुत अधिक छात्र आएँगे। इन ग्रन्थों को पाठ्यक्रम में रखने का परिणाम होगा कि लड़के संस्कृत की जगह फारसी लेने लगेंगे और यदि फारसी को पाठ्यक्रम से हटाया गया तो शायद बहुत कम छात्र हमारे कालेज में आयेंगे। अच्छा हो, यदि हम स्कूल और कालेज के स्तर पर अष्टाध्यायी के कुछ अंशों को पाठ्यक्रम में सम्मिलित करें।

लाहौर

३ जुलाई १८८६

आपका विश्वासपात्र,

मूलराज

परिशिष्ट—द

मांसाहार निषेध विषयक प्रमाण

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥—योगसूत्र २।३०

तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः। उत्तरे च यमनि-
यमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते ॥ तदवदात
रूपकारणायैवोपादीयन्ते। तथा चोक्तं स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा
व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसादिनिदानेभ्यो
निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति—व्यासभाष्ये ॥ जाति-
देशकालसमयानवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ यो० २।३१ तत्रा-
हिंसा जात्यवच्छिन्ना मत्स्यवधकस्य मत्स्येष्वेव नान्यत्र हिंसा सैव देशा
वच्छिन्ना न तीर्थे हनिष्यामीति। सैव कालावच्छिन्ना न चतुर्दश्यान्-
पुण्येऽहनि हनिष्यामीति। सैव त्रिभिरुपरतस्य समयावच्छिन्ना देवब्राह्म-
णार्थं नान्यथा हनिष्यामीति। यथा क्षत्रियाणाम् युद्ध एव हिंसा नान्य-
त्रेति। एभिर्जातिदेशकालसमयैरनवच्छिन्ना अहिंसादयः सर्वथैव परि-
पालनीया। सर्वभूमिषु सर्वविषयेषु सर्वथैवाविदितव्यभिचारा सार्व-
भौमा महाव्रत मित्युच्यते—व्यास भाष्ये ॥

वितर्काहिंसादयः कृततकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदु-
मध्याधिमात्रा दुःखज्ञानानंतफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ यो० २।३४॥

.....तथा चार्हिसकः प्रथमं तावद्द्वयवीर्यमाक्षिपति ततः शस्त्रादि-
निपातेन दुःखयति ततो जीवितादपि मोचयति ततो वीर्यार्क्षेपादस्य
चेतनाचेतनमुपकरणं क्षीणवीर्यं भवति दुःखोत्पादान्नरकतिर्यक् प्रेता-
दिषु दुःखमनुभवति जीवितव्यपरोपणात्प्रतिक्षणं च जीवितात्यये
वर्तमानो मरणमिच्छन्नपि दुःखविपाकस्य नियतवेदनीयत्वात् कथं
चिदेवोच्छसिति यदि च कथंचित् पुण्यावापगता हिंसा भवेत्तत्र सुख-
प्राप्तौ भवेदल्पायुरिति ॥

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभि स्याथ्रं सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ।
नर्यं प्रजां मे पाहि शथ्रंस्यं पशून्मे पाहि अथर्यं पितुं मे पाहि ॥३॥३७॥

दृते दृथ्रं मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षा-
महे ॥३६॥१८

ऋग्वेद सूक्त १२१ ॥

ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति । ये चवितो
मांसभिक्षामुपासत उतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु ॥ ऋ० १।१६२।१२

यन्तोक्षणं मास्यचन्या उखाया या पात्राणि यूष्ण आसेचनानि ।
ऊष्मण्यापिधाना चरूणामंकाः सूताः परि भूषन्त्यश्वम् ॥

ऋ० १।१६२।१३

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं
च ॥१॥

तदुष्टं भोजने नविद्यते । दुष्टं हिंसायाम् ॥ इति वैशेषिक दर्शने ॥

परिशिष्ट—१

पं० गुरुदत्त विद्यार्थी ग्रन्थमाला

- | | | |
|--|---|---|
| 1. The Works of Late Pandit Gurudatta Vidyarthi M. A. with a biographical Sketch. | Edited by Jiwan Das Pensionor, Vice President, Lahore Arya Samaj. | The Aryan printing, publishing & General Trading Co. Ltd. Lahore. |
| 2. " | " | 1897 I Ed. 1902 II Ed. |
| 3. " | " | 1912 III Ed. |
| 4. Wisdom of the Rishis or works of Pt. Gurudatta Vidyarthi M.A. with a biographical sketch by Pt. Chamupati M. A. | Edited by (Swami) Vedanand Tirth. | Rajpal & Sons, Lahore 1912 |
| 5. " | " | |
| 6. गुरुदत्त लेखावली | अनु० सन्तराम बी० ए०
भगवद्दत्त बी० ए० | Sarvadeshik
Pustakalya, Delhi 1959
राजपाल, लाहौर, १९१८
ई० १९७५ वि० |
| 7. " (गो० हा० स्मृति ग्रन्थ) | | गोविन्दराम हासानन्द
दिल्ली १९६० |
| 8. " " | | वेद प्रचारक मण्डल, नई
दिल्ली १९८६ |

ग्रन्थ नाम	पं० गुरुदत्त विद्यार्थी कृत उपनिषदों की टीकाएँ	प्रकाशक	प्रकाशन काल
1. वाजसनेय संहितापनिषद् वा ईशो-पनिषत् (Ishopnishad with Sanskrit Text and English Translation).	विरजानन्द प्रेस, लाहौर		जून १८८८ ई०
2. ईशोपनिषद् (अंग्रेजी टीका का हिन्दी अनुवाद) अनु० आत्माराम अमृतसरी.	ऐंग्लो संस्कृत ग्रन्थालय, लाहौर		
3. Mundakopnishad.	वैदिक मंगजीन में प्रकाशित		अक्टूबर १८८६
4. मुण्डकोपनिषद् अनु० आत्माराम अमृतसरी	लाहौर		पौष ५, १९४८ वि०
5. " सम्पादक-दुर्गाप्रसाद	विरजानन्द प्रेस, लाहौर		१८९३ द्वितीय सं० १९१९ तृतीय सं०
6. Mandukyopanishad.			जुलाई १८८६ १९२४
7. माण्डूक्योपनिषद्-अनु० आत्माराम अमृतसरी	१. वैदिक मंगजीन में प्रकाशित २. बलाईचन्द्र मलिक कलकत्ता विरजानन्द प्रेस, लाहौर आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब		१९४८ वि० पौष १८९१ ई०
8. " उर्दू अनुवाद का शीर्षक 'ओकार उपासना'	"		—

ENGLISH WORKS OF Pt. GURUDATTA VIDYARTHI

- | | | |
|---|--|-------------|
| 1. The Terminology of the Vedas
Pt. I (Published searly in Arya
Patrika of 11th July, 1st August,
19th September, and 10th
October, 1982) | Aryan Tract Society Lahore. | 1888 |
| 2. The Terminology of the Vedas
and European Scholars. | Vedic Magazine, Lahore. | 1889 |
| 3. Evidences of the Human spirit
Pt. I | " | August 1889 |
| 4. " Pt. II | " | 1889 |
| 5. " (Chicago Edition) | " | 1889 |
| 6. Pecuniotomania. | | |
| 7. Pecuniotomania. (with a brief
biographical sketch of the
author) | Omprakash, Vedic Missionary
Jullundur City. | N. D. |
| 8. उर्दू अनुवाद (धन का डाह) | महाशय वजीरखन्द द्वारा आर्य
प्रतिनिधि सभा पंजाब के तत्वा-
वधान में प्रकाशित | |
| 9. The Realities of Inner Life. | Vedic Magazine, Lahore. | N. D. |
| 10. " (with a brief bio-
graphical sketch of the author) | Omprakash, Vedic Missionary
Jullundur City. | |

11. उर्दू अनुवाद—(ब्रह्मानी खिन्दगी की हकीकतें) महाशय वजीरचन्द द्वारा आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के तत्त्व-वधान में प्रकाशित
Arya Pratinidhi Sabha, Punjab Lahore. 1893
12. Criticism on Monier Williams' Indian Wisdom. Aryan Tract Society Lahore. 1890
13. A Reply to Mr. Williams' Criticism on Niyoga: अनुवादक—परमानन्द त्रिद्वारी और रत्नलाल विद्यार्थी
Aryan Tract Society Lahore. 1890
14. उर्दू अनुवाद-टी० विलियम्स साहब की नियोग पर दोषालोचना का उत्तर
1. Virjanand Press, Lahore. 1888
2. स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती 1894
15. Vedic Texts No. 1 (The Atmosphere)
1. Virjanand Press, Lahore. 1888
2. स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती 1894
16. Vedic Texts No. 2 (The composition of water)
1. Virjanand Press, Lahore. 1888
2. स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती 1894
17. Vedic Text No. 3 गृहस्थ being an (A Scientific exposition of Mantras No. 1, 2 & 3 of the XXX Sukt of the Rigveda on the subject of household)
1. Virjanand Press, Lahore. 1888
2. स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती 1894

पं० गुरुदत्त विद्यार्थी के कुछ अन्य स्फुट लेख

1. Conscience and the Vedas, with reference to the Brahmo Samaj.
2. Religious sermons.
(Criticism of a book entitled short sermons and Essays on Religious subjects by a Punjabi Brahmo.
3. A Reply to some criticism of Svamiji's Veda Bhashya.
4. Origin of thought and Language : 1. Virjanand Press, Lahore 1888
2. Arya Tract Society, Lahore 1893
5. Man's progress downwards.
6. Righteousness or unrighteousness of Flesh Eating.
7. A Reply to Mr. T. Williams' letter on Idolatory in the Vedas.
8. Mr. T. Williams on Vedic Text No. 1 (The Atmosphere)
9. Mr. Pincot on the Vedas.

परिशिष्ट—२

गुरुदत्त विद्यार्थी—जीवन-चरित

नाम ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशक स्थान	प्रकाशन काल
१. पं० गुरुदत्त विद्यार्थी के जीवन पर एक दृष्टि	आत्माराम अमृतसरी	लाहौर	—
२. पं० गुरुदत्त विद्यार्थी	सत्यव्रत शर्मा, द्विवेदी	के० सी० भल्ला (आदर्श जीवन माला-४ प्रयाग)	१९१७ ई०
३. पं० गुरुदत्त का संक्षिप्त जीवन	चिम्मनलाल वैश्य	तिलहर (झाड़जहाँपुर)	१९४० ई०
४. मुनिवर पं० गुरुदत्त	त्रिलोकचन्द्र 'विशारद'	आर्यचरित-३ गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली	१९४० ई०
५. पं० गुरुदत्त विद्यार्थी—जीवन एवं व्यक्तित्व	रामप्रकाश (डा०)	आत्मानन्द, प्रकाशन मन्दिर, वैदिक साधनाश्रम यमुनानगर	१९६९ ई०
६. "	"	हरयाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर	२०४३ वि० (रैहतक) १९८६ ई०

७. मुनिवर पं० गुरुदत्त विद्यार्थी ओमप्रकाश आर्य केन्द्रीय आर्य युवा परिषद्, दिल्ली १९८७ ई०
८. पं० गुरुदत्त विद्यार्थी : जीवन तथा कार्य म० ले० लाला लाजपतराय अनु० भवानीलाल भारतीय आर्य प्रकाशन, दिल्ली २०४६ वि०
१९८६ ई०

पं० गुरुदत्त विद्यार्थी जीवनचरित (उर्दू)

१. उन्नीसवीं सदी का सच्चा शहीद फीरोजपुर १८६१ ई०
२. पं० गुरुदत्त का जीवनचरित लाजपतराय (लाला) लाहौर १८६२ ई०
३. " पिण्डीदास पुस्तक भंडार, लाहौर १९१४ ई०

जीवनचरित : (अंग्रेजी)

1. The life of Pt. Gurudatta Vidyarthi Lajpat Rai (Lala) V. P. Lahore 1891
2. Makers of the Arya Samaj. Pt. II Diwan Chand Sharma Macmillan & Co. 1935
(Gurudatta & Lekh Ram) London

जीवनचरित : (गुजराती)

१. पं० गुरुदत्त विद्यार्थी ना लेख अने चन्द्रशंकर नर्मदाशंकर आर्यप्रकाश, आनन्द- १९१४ ई०
तेमनुं जीवनचरित्र पण्ड्या

जीवनचरित : (मराठी)

१. पं० गुरुदत्त एम० ए० यांचे संक्षिप्त चरित्र "राम" लक्ष्मणराव ओघले मंत्री, १९३१ ई०
आर्यसमाज, मुम्बई।

पाद-टिप्पणी

१. ऋषि दयानन्द के कुछ जीवनी लेखकों का कथन है कि मूलशंकर के जन्म के समय उनके माता-पिता की आयु काफी हो चुकी थी।
२. कैसा विचित्र संयोग है कि ऋषि दयानन्द और पं० गुरुदत्त के जन्म नामों में समानता दृष्टिगोचर होती है। दयानन्द का नाम था 'मूल जी' या मूलशंकर गुरुदत्त थे 'मूला'।
३. अंग्रेजी में कहावत है—Child is the father of man.
४. मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी के विस्तृत परिचय के लिए अनुवादक की पुस्तक "महर्षि दयानन्द के भक्त, प्रशंसक और सत्संगी" पढ़ें।
५. यह संकेत अमेरिका के दार्शनिक विचारक एण्ड्रू जैक्सन डेविस की ओर है।
६. To restore primitive Aryan religion to its first pure state was the fire in the furnace called Arya Samaj which started and burnt brightly in the bosom of that inspired son of God in India, DAYANANDA SARASVATI.
The Arya Samaj and its founder by A. J. Davis. V. P. Lahore 1988.
७. मूल पुस्तक फ्रेंच भाषा में है। Bible daus L Inde नामक इस पुस्तक के लेखक हैं जाक्योल्थो। स्वामी दयानन्द ने इस ग्रन्थकार तथा उसकी कृति का उल्लेख सत्यार्थप्रकाश (११वाँ समुल्लास) में किया है। यहाँ इसे 'जैकालियट' कहा गया है।
८. India in Greece.
९. Isisunveiled की लेखिका मैडम ब्लैवेट्स्की हैं।
१०. डा० लाइटनर पंजाब विश्वविद्यालय लाहौर के रजिस्ट्रार पद पर कार्य कर चुके थे। पूरा नाम था जी० डब्ल्यू० लाइटनर एम० ए० बार० एट० ला०।
११. ये गवर्नमेंट संस्कृत कालेज काशी के प्रिंसिपल पद पर रह चुके थे।
१२. भक्त रैमल का पंजाब के आर्य समाज के इतिहास में विशिष्ट स्थान था। उनकी विश्वसनीयता इतनी अधिक थी कि परोपकारिणी सभा के तत्कालीन उपप्रधान राय मूलराज ने उन्हें वैदिक यन्त्रालय का प्रबन्धक नियुक्त किया और वे इस पद पर रहे। यह १८९१ ई० की घटना है।
१३. सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण १९७५ में मुरादाबाद के राजा जयकृष्ण दास के द्वारा छपाया गया था। कतिपय कारणों से स्वामी दयानन्द ने इसे आद्योपान्त संशोधित किया और इसका द्वितीय संस्करण १८८४ में उनकी

मृत्यु के बाद ही पाठकों तक आया, यद्यपि मुद्रण का कार्य उनके जीवनकाल में ही आरम्भ हो चुका था।

१४. भागवत के प्रति स्वामी दयानन्द का आक्रोश एक प्रसिद्ध बात है। हरिद्वार में कुम्भ मेले के अवसर पर १९२३ वि० जब वे अपनी कुटिया में मौन धारण कर आत्म चिन्तन में लीन थे, उस समय एक भागवती पण्डित ने उनकी पर्णकुटी के बाहर आकर भागवत की प्रशंसा का श्लोक “निगम कल्पतरोगलितं फलम्” पढ़ा तो स्वामीजी के संयम का बांध टूट गया और वे कुटिया से बाहर आकर धाराप्रवाह संस्कृत में भागवत का उग्र खण्डन करने लगे। द्रष्टव्य—नवजागरण के पुरोधा : दयानन्द सरस्वती पृष्ठ ८१ (गांगेय प्रदेश का भ्रमण—१)
१५. डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर के आद्य प्राचार्य तथा आर्यसमाज के विख्यात तपोपूत नेता।
१६. प्रसिद्ध अनीश्वरवादी अंग्रेज दार्शनिक।
१७. प्रसिद्ध दार्शनिक तथा उपयोगितावाद के सिद्धान्त के प्रवर्तक।
१८. चार्ल्स डार्विन—विकासवाद के वैज्ञानिक सिद्धान्त के प्रवर्तक।
१९. अंग्रेजी का यह मासिक पत्र लाहौर से श्री रतनचन्द वेरी के सम्पादन में १८८२ ई० में निकला था।
२०. मिल और बेन्थम के उपयोगितावाद (Utilitarianism) में अधिकतम लोगों की सर्वाधिक भलाई। (Greatest good of the greatest number) को ही नैतिक ठहराया गया है।
- २० अ. “हिंसक—ये जितने उत्तर किये वे सब व्यवहार सम्बन्धी हैं, परन्तु पशुओं को मार के मांस खाने में अधर्म तो नहीं होता और जो होता है तो तुमको होता होगा क्योंकि तुम्हारे मत में निषेध है, इसलिए तुम मत खाओ और हम खावें क्योंकि हमारे मत में मांस खाना अधर्म नहीं है।
- रक्षक—हम तुमसे पूछते हैं कि धर्म और अधर्म व्यवहार ही में होते हैं वा अन्यत्र। तुम कभी सिद्ध न कर सकोगे कि व्यवहार से भिन्न धर्माधर्म होते हैं, जिस-जिस व्यवहार से दूसरों की हानि हो वह-वह अधर्म और जिस-जिस व्यवहार से उपकार हो वह-वह धर्म कहाता है तो लाखों के सुख-लाभ-कारक पशुओं का नाश करना अधर्म और उनकी रक्षा से लाखों को सुख पहुँचाना धर्म क्यों नहीं मानते। देखो, चोरी-चारी आदि कर्म इसलिए अधर्म हैं कि इससे दूसरे को हानि होती है नहीं तो जो-जो प्रयोजन घनादि से उनके स्वामी सिद्ध करते हैं वे ही प्रयोजन उन चोरादि के भी सिद्ध होते हैं, इसलिए यह निश्चित है कि जो-जो कर्म जगत् में हानिकारक हैं, वे-वे अधर्म और जो-जो परोपकारक हैं वे-वे धर्म कहाते हैं।”

२१. प्रो० जे० सी० ओमन (पूरा नाम जान कैम्पबेलओमन) गवर्नमेंट कालेज लाहौर में भौतिकी के प्रोफेसर थे। इनकी पुस्तक *Cults, customs and superstitions of India* में आर्यसमाज और उसके संस्थापक पर एक पूरा अध्याय है। प्रकाशन काल १९०८।
२२. लाहौर आर्य समाज के प्रारम्भिक सदस्यों में सर्वाधिक प्रभावशाली तथा निष्ठावान लाला साईदास, पंजाब सरकार के कार्यालय में ट्रांसलेटर के पद पर कार्यरत थे। इसी महापुरुष की प्रेरणा से आर्यसमाज में मुन्शीराम (श्रद्धानन्द) तथा लाजपतराय जैसे युवकों का प्रवेश हुआ। विशेष जानकारी के लिए पं० चमूपति लिखित आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का इतिहास देखें।
२३. आर्य समाज लाहौर के प्रारम्भिक सभासदों में लाला मदनसिंह का नाम सुख्यात है। डी०ए०वी० कालेज लाहौर की प्रबन्ध समिति में भी उनका योगदान महत्त्वपूर्ण रहा।
२४. "A little knowledge is a dangerous thing. Drink deep or taste not the pierian spring."
२५. इस पत्र का प्रकाशन १८८२ में आरम्भ हुआ। चार मास चला तत्पश्चात् बन्द हो गया।
२६. जनवरी १८८३ में आरम्भ हुआ।
२७. मूल पुस्तक में भी यह राशि उल्लिखित नहीं है।
२८. ईश्वर के अस्तित्व को लेकर यह संशयास्पद स्थिति ३० अक्टूबर १८८३ तक तो निश्चित रूप से ही रही थी, क्योंकि उसी दिन सायंकाल अजमेर में परम ईश्वर-विश्वासी महर्षि दयानन्द के महापरिनिर्वाण के अभूतपूर्व दृश्य को देखकर पं० गुरुदत्त के नास्तिक मानस में ईश्वर विश्वास की हिलोरें लहराने लगी थीं।
२९. वास्तव में यह सभा ९ नवम्बर १८८३ को हुई थी। लेखक ने स्वयं अगले अनुच्छेद में इसकी यही तिथि दी है।
३०. आर्य पत्रिका (साप्ताहिक) का प्रकाशन जुलाई १८८५ में आरम्भ हुआ। इसके प्रथम सम्पादक लाला संगमलाल थे।
३१. लेखक का अभिप्राय प्रसिद्ध लेखक कार्यालय से है।
३२. वर्तमान उत्तर प्रदेश को गत शताब्दी में इसी नाम से पुकारा जाता था।
३३. लाला लालचन्द—आर्यसमाज लाहौर के प्रारम्भिक सभासद तथा डी०ए०वी० कालेज प्रबन्ध समिति के प्रथम प्रधान।
३४. लाला ज्वालासहाय—आर्यसमाज की पुरानी पीढ़ी के व्यक्ति। इनकी लिखी एक पुस्तक "आजकल के साधुओं की कर्तूत" का उल्लेख मिलता है।

३५. लाला द्वारकादास—आर्यसमाज लाहौर के आरम्भिक सदस्यों में उल्लेखनीय व्यक्ति। इनकी एक पुस्तक *Atheism and Agnosticism* १८८८ में छपी थी। इनके नाम से द्वारकादास पुस्तकालय चण्डीगढ़ में चल रहा है।
३६. *The Realities of Inner Life*.
३७. दयानन्द आश्रम का शिलान्यास २६ दिसम्बर १८८७ को आनासागर के तटवर्ती बाग में हुआ था, किन्तु इस नाम का भवन तो केसरगंज में ही बना। इस अवसर पर लाला लाजपतराय, लाला हंसराज और लाला साईदास के अजमेर जाने का उल्लेख परोपकारिणी सभा के इतिहास (पृ० १८) में मिलता है।
३८. पुष्कर और अजमेर के बीच का पहाड़ी मार्ग। निश्चय ही उन दिनों वसों का प्रचलन नहीं था और अधिकांश यात्री पैदल ही पुष्कर जाते थे।
३९. कृष्ण और क्राइस्ट की समानता को लेकर बहुत कुछ कल्पनापूर्ण साहित्य लिखा गया है। कई लेखकों ने इन दोनों महापुरुषों की जीवन घटनाओं में अप्रत्याशित समानता देखी है और कइयों ने तो यही विचार प्रस्तुत किया है कि कृष्ण विषयक कथाएँ ही मध्य एशिया में क्राइस्ट से सम्बन्धित उपाख्यानो के रूप परिवर्तित होकर प्रचलित हुई हैं।
४०. महाभारत की कथा तथा कृष्ण की ऐतिहासिक सत्ता में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है। द्रष्टव्य—अनुवादक का लिखा—श्रीकृष्ण चरित—(प्रकाशक गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली)।
४१. प्रो० मोनियर विलियम्स ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्रोफेसर थे। स्वामी दयानन्द से बम्बई में उनकी भेंट १८७६ में हुई थी। विशेष जानकारी के लिए देखें—अनुवादक की पुस्तक “महर्षि दयानन्द के भक्त, प्रशंसक और सत्संगी” में प्रो० मोनियर विलियम्स का विवरण।
४२. लाला लाजपतराय उस समय हिसार में बकालत कर रहे थे।
४३. यह संकेत एण्ड्रू जैक्सन डेविस की पुस्तक *Beyond The Valley* की ओर है।
४४. सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता और कांग्रेस के ११वें पूना अधिवेशन (१८७५) तथा १९वें अहमदाबाद अधिवेशन (१९०२) के अध्यक्ष।
४५. केशवचन्द्र सेन के शिष्य और साथी तथा उनके पश्चात् ब्रह्मसमाज की नवविधान शाखा के अध्यक्ष।
४६. यह व्याख्यान २५ नवम्बर १८८७ को आर्यसमाज लाहौर के वार्षिकोत्सव के अवसर पर दिया गया था। पं० गुरुदत्त द्वारा की गई सिख मत की टीका से क्रुद्ध होकर भाई दित्तसिंह तथा भाई जवाहरसिंह ने आर्यसमाज का परित्याग कर दिया।

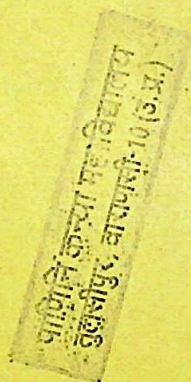
४७. लाला लाजपतराय ने अपनी आत्मकथा में अपनी माता के बारे में लिखा है —“She had been born in a family where Sikhism reigned supreme. Her father, mother and brothers were Sikhs. They used to recite Japji. They wore long hair and in religious matters, they worshipped the Guru Granth Sahib.”
४८. लेखक का संकेत भाई दित्तसिंह, तथा भाई जवाहरसिंह जैसे जन्मना सिखों की ओर है जो यद्यपि अपने प्रारम्भिक जीवन में आर्यसमाजी बन गये थे, किन्तु कालान्तर में सांसारिक स्वार्थों के बशीभूत होकर न केवल आर्य-समाज से दूर ही हो गये अपितु उसके कट्टर विरोधी भी बने। विस्तार के लिए द्रष्टव्य, नवजागरण के पुरोधा : दयानन्द सरस्वती पृ० ३३०-३३१ की पादटिप्पणी।
४९. विस्तृत परिचय के लिए देखें अनुवादक का ग्रन्थ—महर्षि दयानन्द के भक्त, प्रशंसक और सत्संगी। स्वामी अच्युतानन्द (१८५३-१९४१) मण्डलेश्वर पद पर प्रतिष्ठित संन्यासी थे। उनसे स्वामी दयानन्द की भेंट १९३५ वि० में हरिद्वार में हुई थी। वे पं० गुरुदत्त के सम्पर्क में आकर ही आर्यसमाजी बने।
५०. स्वामी महानन्द ने उत्तर प्रदेश में वैदिक धर्म का खूब प्रचार किया था। देहरादून आर्यसमाज की स्थापना उन्होंने ही की थी।
५१. स्वामी स्वात्मानन्द लिखित मृतक श्राद्धखण्डन नामक एक पुस्तक का उल्लेख मिलता है। इसका प्रकाशन विरजानन्द प्रेस लाहौर से १८९३ में हुआ था।
५२. चौथे संन्यासी स्वामी प्रकाशानन्द थे। ये वर्षों तक जोधपुर के महाराज प्रतापसिंह के गुरु बनकर रहे तथा प्रार्थना-प्रसन्नवण एवं उपदेश-प्रसन्नवण आदि पुस्तकों की रचना की।
५३. आर्यसमाज में यह प्रवाद प्रचलित है कि पं० गुरुदत्त ने सत्यार्थ प्रकाश को १८ बार पढ़ा था।
५४. सम्भवतः यह संकेत भी एण्ड्रू जैक्सन डेविस की ओर ही है।
५५. लाला साईदास (१८४१-१९००) का जन्म जालन्धर जिले के ग्राम लस्साड़ा में हुआ था। उनकी शिक्षा मैट्रिक तक की थी, किन्तु आर्य समाज के लिए उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन को निछावर कर दिया था। उनके त्याग और समर्पण भाव की प्रशंसा स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपतराय, पं० चमूपति तथा प्रि० दीवानचन्द आदि सभी आर्य नेताओं ने अपने संस्मरणों में की है।
५६. अंग्रेजी का विख्यात कवि।
५७. गत शताब्दी के पंजाब में अंग्रेजी शिक्षितों के लिए Extra Assistant Commissioner की नौकरी प्रायः सुनिश्चित-सी थी। आर्यसमाज के उस युग के पंजाबी नेता राय मूलराज भी इसी पद पर नियुक्त हुए थे।

५८. लाला लाजपतराय का संकेत किस व्यक्ति की ओर है, यह कहना कठिन है। यह राय मूलराज भी हो सकते हैं और महात्मा हंसराज के बड़े भाई लाला मुल्कराज भी।
५९. रेवाड़ी के ईसाई पादरी टी० विलियम्स ने स्वामी दयानन्द के नियोग विषयक मन्तव्य की आलोचना "पं० दयानन्द का झूठ और उनकी गुनाह-आलूदा तालीम" शीर्षक से १८८६ में छपाई। इसका उत्तर पं० गुरुदत्त ने A reply to Mr. Williams' Criticism on Niyoga, शीर्षक लिखा जो १८९० में आर्य ट्रैक्ट सोसाइटी, लाहौर से छपा।
६०. सम्प्रति पाकिस्तान का एक पर्वतीय पर्यटक स्थान।
६१. गुरुदत्त लेखावली (अनुवादक सन्तराम बी० ए० और भगवद्दत्त बी० ए०) प्रकाशक : राजपाल, लाहौर १९७५ वि० पृ० ५१।
६२. वही, पृ० ६३।
६३. वही, पृ० ६४।
६४. वही, पृ० ७५-७६।
६५. वही, पृ० ७१।
६६. वही, पृ० ८२-८३।
६७. ऋग्वेद मण्डल ९ सूक्त ९६।६।
६८. सायण दक्षिण भारत के अन्तिम हिन्दू साम्राज्य विजयनगर का प्रधानमन्त्री था। उसने वहाँ के राजा हरिहर और बुक्क का संरक्षण प्राप्त कर चतुर्वेद संहिताओं (यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा को छोड़कर) पर भाष्य रचना की।
६९. गुरुदत्त ग्रन्थावली (उपर्युक्त) पृ० ६२-६४।
७०. ऋग्वेद मण्डल ९ सूक्त ९६ मन्त्र ६।
७१. वेदों में 'हीनोथीज्म' की कल्पना प्रो० मैक्समूलर ने की थी। उनके अनुसार वेदों के जिस सूक्त में जिस देवता की स्तुति प्रधानतया की गई है, वहाँ उसे ही ईश्वर और सर्वोपरि देव मान लिया है। किन्तु विभिन्न सूक्तों में विभिन्न देवों का उल्लेख भी है और वे तत् तत् स्थान पर सर्वोपरि, सर्व पूज्य एवं सर्वशक्तिमान् हैं। अतः वेदों में न तो शुद्ध एकेश्वरवाद है और न बहुदेवतावाद, बल्कि मैक्समूलर की राय में उसे 'हीनोथीज्म' कहना ही उचित है।
७२. विगत शताब्दी के भारत हितैषी अंग्रेजों में फ्रैंड्रिक पिन्काट का नाम सुपरिचित है। वे हिन्दी के अच्छे ज्ञाता थे और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मित्र एवं प्रशंसक थे।
७३. "In the whole world there is no study, except that of the originals. (उपनिषद्) as beneficial and elevating as that of the Opanikhat. It has been the solace of my life, it will be the solace of my death."

- 325 188
७४. भारतीय दर्शन के प्रति ये निन्दात्मक विचार गफ (पुरा नाम आर्चिबाल्ड एडवर्ड गफ) नामक एक पाश्चात्य विद्वान् ने प्रकट किये हैं।
७५. 'The philosophy of Upanishads' by Archibald Edward Gough M.A.
७६. He knocked and it was opened unto him.
७७. स्वल्प परिवर्तन के साथ ईशोपनिषद् यजुर्वेद का ४०वाँ अध्याय ही है।
७८. इस कथन में लेखक (लाला लाजपतराय) ने रमेशचन्द्र दत्त लिखित प्राचीन भारत (खण्ड १, पृष्ठ १७७) तथा मैक्समूलर रचित उपनिषदों की भूमिका (खण्ड-२) को प्रमाण रूप में उल्लिखित किया है।
७९. अने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देववयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्ति विधेम् ॥
दयानन्द सरस्वती ने स्वनिर्मित प्रार्थना उपासना विधि में इस नमस्कार विधेयक मन्त्र को अन्त में रखा है।
८०. पं० भीमसेन शर्मा (स्वामी दयानन्द के आद्य शिष्य) का ईशोपनिषद् भाष्य सर्वप्रथम वेदप्रकाश प्रेस इटावा से १९६२ वि० में छपा था।
८१. इन सब परिवर्तनों के कारण का संकेत पहले भी आ चुका है। स्वामी दयानन्द का भाष्य माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद पर है, जबकि ईशोपनिषद् का पाठ यजुर्वेद की काण्वशाखा में मिलने वाले ४०वें अध्याय के अनुकूल है।
८२. गुरुदत्त लेखावली (उपर्युक्त संस्करण) पृ० २०५।
८३. वही, पृ० २०७।
८४. यह माहेश्वर (प्रत्याहार) सूत्र है अ म ड ण न म्
८५. Lectures on the Science of Language. 4th Edition (London) page-४०२.
८६. गुरुदत्त लेखावली (उपर्युक्त संस्करण), पृ० २०७।
८७. वही, पृ० २०७-२०८।
८८. वही, पृ० १९९।
८९. वही, पृ० २००।
९०. वही, पृ० २०१।
९१. वही, पृ० २०२।
९२. वही, पृ० २१३।
९३. वही, पृ० २१४-२१६।
९४. नाम्ना आसीदन्तरिक्षं क्षीर्णो द्यौ समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिदिशः श्रोत्रात्तथा लोकां २५ अकल्पयन् ॥
९५. अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदा।
वायुः प्राणा हृदयं विश्वस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥
९६. गुरुदत्त लेखावली (उपर्युक्त संस्करण), पृ० २२१।
९७. वही, पृ० २२२।
९८. वही, पृ० २२५।
९९. वही, पृ० २२७।

१००. यत्तदद्रेक्ष्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं
सुसूक्ष्म तद्व्ययं अद्भुतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥
१०१. दिव्योह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥
१०२. गुरुदत्त लेखावली (उपर्युक्त संस्करण), पृ० २२८ ।
१०३. यः सर्वज्ञः सर्वं विद् यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥
१०४. तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि ।
तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष व पन्थः सुकृतस्य लोके ॥
१०५. गुरुदत्त लेखावली (उपर्युक्त संस्करण), पृ० २२६ ।
१०६. Evidences of the Human Spirit.
१०७. गुरुदत्त लेखावली (उपर्युक्त संस्करण), पृ० १५० ।
१०८. वही, पृ० १५१-१५२ ।
१०९. वही, पृ० १५२ ।
११०. न्यायदर्शन पर लिखा गया यह भाष्य आचार्य प्रशस्तपाद द्वारा निर्मित है ।
गोतम तो मूल सूत्रों के रचयिता थे ।
१११. गुरुदत्त लेखावली (उपर्युक्त संस्करण), पृ० १५६ ।
११२. इस निबन्ध का मूल नाम है Pecuniomania ।
११३. वस्तुतः यह मनुस्मृति के दूसरे अध्याय का १३वां श्लोक है जो निम्न है—
अर्थ कामेषवसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥
११४. गुरुदत्त लेखावली (उपर्युक्त संस्करण), पृ० २७५ ।
११५. Realities of Inner Life.
११६. प्रासंगिक मन्त्र है—
वायवाहि दक्षतेमे सोमा अरंकृताः । तेषां पाहि श्रुधी हवम् ॥
११७. प्रासंगिक मन्त्र है—
मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम् । धियं धृताचीं साधन्ता ॥
११८. यहाँ ३०वें के स्थान ५०वां होना चाहिए ।
११९. प्रासंगिक मन्त्र है—
१. उदुत्यं जातवेदसं देवं बहन्ति केतवः ।
दशे विश्वाय सूर्यम् ॥
२. अपत्ये तायवो यथा नक्षत्रा पत्युक्तभिः ।
सूराय विश्व चक्षसे ॥
३. अदृश्रमस्य केतवो विरश्मयो जन्तां अनु ।
भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥
१२०. सत्यार्थप्रकाशः तृतीय समुल्लास ।





स्तुता मया वरदा वै
 चोदयन्तां पावमानी
 आयुः प्राणं प्रजां पशु
 विणं ब्रह्मवर्चसम् । मह्यं दद्या
 व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥

अथर्व० १९-७१-१

स्तुति करते हम वेद ज्ञानकी,
 जो माता है प्रेरक-पालक,
 पावन करती मनुज मात्र को ।
 आयु, बल, सन्तति, पशु कीर्ति,
 धन, मेधा, विद्या का दान ।
 सब कुछ देकर हमें दिया है,
 मोक्ष मार्ग का पावन ज्ञान ।